कलम, तलवार और त्याग

भाग १

प्रेमचंद

सरस्वती प्रेस
इलाहाबाद वाराणसी दिल्ली

प्रकाशकीय

हिन्दी के अमर कथाकार प्रेमचन्द का योगदान केवल कहानियों अथवा उपन्यासों तक ही सीमित नहीं है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व तत्कालीन युग-चेतना के सन्दर्भ में उन्होंने कुछ महापुरुषों के जो प्रेरणादायक और उद्बोधक शब्दचित्र अंकित किए थे, उन्हें "कलम, तलवार और त्याग" में इस विश्वास के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है कि किशोर-किशोरियों के लिए ये न केवल ज्ञानवर्द्धक, प्रत्युत मनोरंजक भी सिद्ध होंगे।

इन्हें पढ़ते समय पाठकों को इतना ध्यान अवश्य रखना होगा कि कुछ सन्दर्भित तथ्य आज सर्वथा परिवर्तित हो चुके हैं। लेखक की युगानुभूति को परिवर्तित करना एक अनाधिकार चेष्टा ही मानी जाती, अतः 'जस की तस धर दीनी चदरिया' ही हमारा लक्ष्य रहा है।

—प्रकाशक

अनुक्रम

राणा प्रताप

राजस्थान के इतिहास का एक-एक पृष्ठ साहस, मर्दानगी और वीरोचित प्राणोत्सर्ग के कारनामों से जगमगा रहा है। बापा रावल, राणा सांगा और राणा प्रताप ऐसे-ऐसे उज्ज्वल नाम हैं कि यद्यपि काल के प्रखर प्रवाह ने उन्हें धो वहाने में कोई कसर नहीं उठा रखी, फिर भी अभी तक जीवित हैं, और सदा जीते तथा चमकते रहेंगे। इनमें से किसी ने भी राज्यों की नींव नहीं डाली, बड़ी-बड़ी विजयें नहीं प्राप्त कीं; नए राष्ट्र नहीं निर्माण किए; पर इन पूज्य पुरुषों के हृदयों में वह ज्वाला जल रही थी, जिसे स्वदेश-प्रेम कहते हैं।

वह यह नहीं देख सकते थे कि कोई बाहरी आये और हमारे बराबर का होकर रहे। उन्होंने मुसीबतें उठायीं, जानें गँवायीं, पर अपने देश पर कब्जा करनेवालों के कदम उखाड़ने की चिन्ता में सदा जलते-जुड़ते रहे। वह इस विचार या मध्यम वृत्ति के समर्थक न थे कि 'मैं भी रहूँ और तू भी रह'। उनके दावे ज्यादा मर्दानगी और बहादुरी के थे कि 'रहें तो हम रहें या हमारे जातिवाले, कोई दूसरी कौम हर्गिज कदम न जमाने पाए।' उनकी कार्यावली इस योग्य है कि हमारे धार्मिक साहित्य का अंग बने। इस समय हम केवल राणा प्रताप का जीवन-वृत्तांत पाठकों को भेंट करते हैं, जो जब तक जीवित रहा, अकबरी दबदबे का सामना करता रहा।

उस वक्त जब कोटा, जैसलमेर, अम्बर, मारवाड़ सभी देशों के नरेश दरबार अकबरी की जय मनानेवाले या उसके आश्रित बन चुके थे, यह वीरत्व-वन-केसरी, यह अध्यवसाय-नद का मगरमच्छ, यह दृढ़ता-पथ का पथिक अकेले दम पर उनकी सम्मिलित शक्ति का सामना करता रहा। पहाड़ों के दर्रों और पेड़ों के खोखलों में छिप-छिपकर उस अनमोल हीरे को दुश्मन के हाथ में पड़ने से बचाता रहा, जिसको जातीय स्वाधीनता कहते हैं। जब मरा तो उसके पास अपनी वज्र-घातिनी तलवार और थोड़े-से सच्चे साथियों के सिवा राजसिक वैभव का और कोई सामान न था। जितने मित्र और सहायक थे, सब या तो सत्धर्म का पालन करते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके थे या अकबरी इकबाल का दम भरने लगे थे। पर यह अकिंचन मृत्यु, उस सुनहरे सिंहासन पर तथा मित्र-शुभ-चिंतकों के उस जमघट में मरने से हजार दर्जे अच्छी है, जो जाति की स्वाधीनता, आत्मा की दासता और देश के अपमान के बदले में मिले हों।

प्रताप उदयसिंह का बेटा और शेरदिल राणा साँगा का पोता था। राणा साँगा और बाबर के संग्राम इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। यद्यपि राणा की पराजय हुई, पर स्वदेश की रक्षा में अपना रक्त बहाकर उसने सदा के लिए अपना नाम उज्ज्वल कर लिया। उसका बेटा उदयसिंह बाप के वीरोचित गुणों का उत्तराधिकारी न था। कुछ दिनों तक तो वह चित्तौड़ को मुगलों के द्वारा पदाक्रांत होने से बचाता रहा, पर

ज्यों ही अकबर के तेवर बदले देखे, शहर जगमल को सिपुर्द करके अरावली की पहाड़ियों में जा छिपा और वहाँ एक नए नगर की नींव डाली, जो आज तक उसके नाम से उदयपुर मशहूर है। जगमल ने जिस वीरता से शत्रु का सामना किया, चित्तौड़ के सब वीर जिस तरह सिर हथेली पर रखकर दुश्मन को हटाने के लिए तैयार हुए, चित्तौड़ की सुकुमार ललनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जिस दृढ़ता से अग्निकुंड में कूदकर जल मरने को श्रेयस्कर समझा—यह बातें आज सबकी जबान पर हैं, और ऐतिहासिकों की लेखनियाँ उनकी चर्चा में सदा आनन्द से थिरकती रहेंगी।

उधर भगोड़ा ऊदयसिंह अपने पहाड़ी किले में अपने साथियों सहित जीवन बिताता रहा। महाराणा प्रताप ने इन्हीं पहाड़ियों के बीच प्राकृतिक दृश्यों से शिक्षा पायी। शेरों से मर्दानगी का, तो पहाड़ों से अपने संकल्प पर अटल रहने का पाठ पढ़ा। पिता की मृत्यु होने तक स्वच्छन्द विचरण और आखेट के सिवा उसे और कोई काम न था। हाँ, अपने राज्य की बर्बादी, अपने समकालीन हिंदू नरेशों की भीरुता, मुगल बादशाहों के दबदबे और मेवाड़ घराने के बहादुरी के कारनामों ने उसके आनवाले और उत्साह भरे हृदय को टहोंके दे-देकर उभार रखा था।

पिता के निधन के बाद जब वह गद्दी पर बैठा, तो गौरवमय मेवाड़ राज्य का अस्तित्व केवल नाम के लिए रह गया था। न कोई राजधानी थी, न सेना, न कोष। साथी-

सहायक बार-बार हार खाते-खाते और परेशानियाँ उठाते-उठाते हिम्मत हार बैठे थे। प्रताप ने आते ही उनके दबे हुए हौसलों को उभारा, सुलगती आग को दहकाया और उन्हें चित्तौड़ की बर्बादी तथा रक्तपात का बदला लेने के लिए तैयार किया। उसका भाव-भरा हृदय कब इस बात को सहन कर सकता था कि जो स्थान उसके कीर्तिशाली पूर्वपुरुषों का निवास-स्थल रहा, जिसके दरोदीवार उनके रक्त से रँगे हैं, और जिसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बलि दी हो, वह दुश्मन के कब्जे में रहे और उनके बेअदब पैरों से रौंदा जाय।

उसने अपने साथियों, सरदारों और आनेवाली पीढ़ियों को कसम दिलायी कि जब तक चित्तौड़ पर तुम्हारा अधिकार न हो जाय, तुम सुख-विलास से दूर रहो। तुम क्या मुँह लेकर सोने-चाँदी के बर्तनों में खाओगे और मखमली गद्दों पर सोओगे, जब कि तुम्हारे बाप-दादों का देश शत्रुओं के अत्याचार से रोता-चिल्लाता रहेगा? तुम क्या मुँह लेकर आगे नगाड़े बजाते और अपनी (सिसोदिया) जाति का झंडा ऊँचा किए हुए निकलोगे, जब कि वह स्थल, जहाँ तुम्हारे बाप-दादों की नालें गड़ी हैं, और जो उनके कीर्ति-कलापों का सजीव स्मारक है, शत्रु के पैरों से रौंदा जा रहा है? तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारे खून में जोश है, तुम क़सम खाओ कि जब तक चित्तौड़ पर अधिकार न कर लोगे, हरे पत्तों पर खाओगे, खोरियों पर सोओगे और नगाड़ा सेना के पीछे रखोगे; क्योंकि

तुम मातम कर रहे हो और यह बातें तुमको सदा याद दिलाती रहेंगी कि तुमको एक बड़े जातीय कर्त्तव्य का पालन करना है।

राणा जब तक जीवित रहा, इन व्रतों का पालन करता रहा। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी भी उनका पालन करते आये और अब तक यह रस्म चली आती है, अंतर यह है कि पहले इस रस्म का कुछ अर्थ था, अब वह बिलकुल बेमानी हो गई है। विलासिता ने निकास की सूरतें निकाल ली हैं, तो भी जब सुनहरे बर्तनों में खाते है, तो चंद पत्ते ऊपर से रख लेते हैं। मखमली गद्दों पर सोते हैं, तो इधर-उधर पयाल के टुकड़े फैला देते हैं।

राणा ने इतने ही पर संतोष न किया। उसने उदयपुर को छोड़ा और कुंभलमेर को राजधानी बनाया। अनावश्यक और अनुचित खर्चे, जो महज नाम और दिखावे के लिए किए जाते थे, बंद कर दिए। जागीरों का फिर से नई शर्तों के अनुसार वितरण किया। मेवाड़ का वह सारा हल्का, जहाँ शत्रु का प्रवेश संभव हो सकता था और पर्वत-प्राचीर के बाहर था, सपाट मैदान बना दिया गया। कुएँ पटवा दिए गए और सारी आबादी पहाड़ों के अंदर बसा दी गई। सैकड़ों मील तक उजाड़ खंड हो गया और यह सब इसलिए कि अकबर इधर रुख करे, तो उसे कर्बला के मैदान का सामना हो। उस उपजाऊ मैदान में अनाज के बदले लम्बी-लम्बी घास लहराने लगी, बबूल के काँटों से रास्ते बन्द हो गए और जंगली जानवरों ने उसे अपना घर बना लिया।

परन्तु अकबर भी राज्य-विस्तार-विद्या का आचार्य था। उसने राजपूतों की तलवार की काट देखी थी और खूब जानता था कि राजपूत जब अपनी जानें बेचते हैं, तो सस्ती नहीं बेचते। इस शेर को छेड़ने से पहले उसने मारवाड़ के राजा मालदेव को मिलाया। आमेर का राजा भगवानदास और उसका बहादुर बेटा मानसिंह दोनों पहले ही अकबर के बेटे बन चुके थे। दूसरे राजाओं ने जब देखा कि ऐसे-ऐसे प्रबल प्रतापी नरेश अपनी जान की खैर मना रहे हैं, तो वह भी एक-एक करके शुभचिंतक बन गए। इसमें कोई राणा का मामू था, तो कोई फूफा। यहाँ तक कि उसका चचेरा भाई सागरजी भी उससे विमुख होकर अकबर से आ मिला था।

ऐसी अवस्था में कोई आश्चर्य नहीं कि जब राणा ने अपने विरुद्ध मुगल सेना की जगह अपनी ही जाति के सूरमाओं और घुड़सवारों को आते देखा हो; अपने ही भाइयों, अपने ही सगे बंधुओं को तलवार खींचकर सामने खड़ा पाया हो; तो उसकी तलवार एक क्षण के लिए रुक गयी हो, तनिक देर के लिए वह खुद ठिठक गया हो और महाराज युधिष्ठिर की तरह पुकार उठा हो—'क्या मैं अपने भाई-बन्दों से लड़ने के लिए आया हूँ?' इसमें संदेह नही कि इन भाई-बन्दों से वह कितनी ही बार लड़ चुका था। राजस्थान का इतिहास ऐसे गृहयुद्धों से भरा पड़ा है, पर ये लड़ाइयाँ उन्हें एक-दूसरे से विलग नहीं करती थीं। दिन भर एक-दूसरे के खून में भाले भिगोने के बाद शाम को वह फिर मिल बैठते थे और परस्पर

प्रेमालिंगन करते थे; पर आज राणा को ऐसा मालूम हुआ कि ये भाई-बंद मुझसे सदा के लिए बिछुड़ गए हैं, क्योंकि वह सच्चे राजपूत नहीं रह गए, उनकी बेटियाँ और बहिनें अकबर के अंतःपुर में दाखिल हो गई हैं। हा शोक! इन राजपूतों का राजपूती खून ऐसा ठंडा हो गया है। क्या राजपूती आन और जाति-अभिमान इनमें नाम को भी बाकी नहीं? हा! अपनी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा का विचार क्या उनके मन से बिलकुल ही उठ गया? शोक कि उन्हीं राजपूत ललनाओं की बहिनें, जो चित्तौड़ के घेरे के समय अपने सतीत्व की रक्षा के लिए 'जौहर' करके जल मरी थीं, आज अकबर के पहलू में बैठी हैं और प्रसन्न हैं। उनके म्यान से तेगा क्यों नहीं निकल पड़ता, उनके कलेजे क्यों नहीं फट जाते! उनकी आँखों से खून क्यों नहीं टपक पड़ता! हा हंत! इक्ष्वाकु के वंश और पृथ्वीराज के कुल की यह दुर्दशा हो रही है!

प्रताप ने उन राजाओं से, जिन्होंने उसके विचार से राजपूतों को इतना ज़लील किया था, सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसके साथ शादी-व्याह की तो बात ही क्या, खाना-पीना तक उचित न समझा। जब तक मुगल-राज्य बना रहा, उदयपुर के घराने ने केवल यही नहीं किया कि शाही खानदान से ही इस प्रकार का नाता न जोड़ा, बल्कि अम्बर और मारवाड़ को भी बिरादरी से खारिज करवा दिया। उदयपुर यद्यपि अपनी नीति-रीति को निभाते चलने के कारण, विपद-गर्त में गिरा और दूसरे राजघराने अपना बाना त्यागकर फूलते-

फलते रहे, पर सारे राजस्थान में ऐसा कोई कुल न था, जिस पर उदयपुर का नैतिक रोब न छाया हो और जो उसके कुल-गौरव को स्वीकार न करता हो। यहाँ तक कि जब महाराज जयसिंह और महाराज बख्तसिंह जैसे शक्तिशाली नरेशों ने उदयपुर से पवित्र बनाए जाने की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हुई, तो यह शर्त लगा दी गई कि उदयपुर राजकुल की लड़की चाहे जिस कुल में ब्याही जाए, सदा उसी की संतान गद्दी पर बैठेगी।

काश, राणा अपनी घृणा को अपने दिल ही तक रखता, जबान तक न आने देता, तो बहुत-सी विपत्तियों से बच जाता। पर उसका वीर-हृदय दबना जानता ही न था। मानसिंह सोलापुर की मुहिम की ओर चला आ रहा था कि राणा से मिलने के लिए कुंभलमेर चला आया। राणा स्वयं उसकी अगवानी को गया और बड़े ठाट से उसकी दावत की; पर जब खाने का समय आया, तो कहला भेजा कि मेरे सिर में दर्द है। मानसिंह ताड़ गया कि इनको मेरे साथ बैठकर खाने में आपत्ति है, झल्लाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, 'अगर मैंने तुम्हारा गर्व चूर्ण न कर दिया, तो मानसिंह नाम नहीं।' तब तक राणा भी वहाँ पहुँच गया था और बोला—'जब तुम्हारा जी चाहे, चले आना। मुझे हरदम तैयार पाओगे।' मानसिंह ने आकर अकबर को उभारा। बारूद पर पलीता पहुँच गया। फौरन राणा पर हमला करने के लिए फौज तैयार करने का हुक्म हुआ। शाहजादा सलीम प्रधान सेनापति

वनाए गए। मानसिंह और महावत खाँ उनके सलाहकार नियुक्त हुए।

राणा भी अपने बाईस हजार शूरवीर और मृत्यु को खेल समझनेवाले राजपूतों के साथ हल्दीघाटी के मैदान में पैर जमाए खड़ा था। ज्यों ही दोनों सेनाएँ आमने-समाने हुईं, प्रलयकांड उपस्थित हो गया। मानसिंह के साथियों के दिलों में अपने सरदार के अपमान की आग जल रही थी और वह उसका वदला लेना चाहते थे। राणा के साथी भी यह दिखा देना चाहते थे कि अपनी स्वाधीनता हमें जान से भी अधिक प्यारी है। राणा ने वहुतेरा चाहा कि मानसिंह से मुठभेड़ हो जाय, तो जरा दिल का हौसला निकल जाय; पर इस यत्न में उन्हें सफलता न हुई। हाँ, संयोगवश उनका घोड़ा सलीम के हाथी के सामने आ गया। फिर क्या था, राणा ने चट रिकाव पर पाँव रखकर भाला चलाया, जिसने महावत का काम तमाम कर दिया। चाहता था कि दूसरा तुला हुआ हाथ चला कर अकबर का चिराग़ गुल कर दे कि हाथी भागा।

शाहजादे को खतरे में देख, उसके सिपाही लपके और राणा को खतरे में देख, उसके सिपाही लपके और राणा को घेर लिया। राणा के राजपूतों ने देखा कि सरदार घिर गया, तो उन्होंने भी जान तोड़कर हल्ला किया और उसे प्राण-संकट से साफ़ निकाल लाये। फिर तो वह घमासान युद्ध हुआ कि खून की नदियाँ वह गईं। राणा जख्मों से चूर हो रहा

था। शरीर से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। पर तेग हाथ में लिये बिगड़े हुए शेर की तरह मैदान में डटा था। शत्रुदल उसके छत्र को देख-देखकर उसी स्थान पर अपने पूरे बल से धावा करता, पर राणा ने पाँव आगे बढ़ाने के सिवाय पीछे हटाने का नाम भी न लिया। यहाँ तक तीन बार दुश्मनों की जद में आते-आते बच गया। पर इस समय तक लड़ाई का रुख पलटने लगा। हृदय की वीरता और हिम्मत का जोश तोप-बंदूक, गोला बारूद के सामने कब तक टिक सकता था। सरदार झाला ने जब यह रंग देखा, तो चट छत्र-वाहक के हाथ से छत्र छीन लिया और उसे हाथ में लिये एक चक्करदार स्थान को चला गया। शत्रु ने समझा कि राणा जा रहा है, उसके पीछे लपके। इधर राणा के साथियों ने मौका पाया, तो उसे मैदान से सकुशल बचा ले गए। पर सरदार झाला ने अपने डेढ़ सौ साथियों सहित वीरगति प्राप्त की और स्वामि-ऋण से उऋण हो गए। चौदह हजार बहादुर राजपूत हल्दीघाटी के मैदान को अपने खून से सींच गए, जिनमें पाँच सौ से अधिक राजकुल के ही राजकुमार थे।

मेवाड़ में जब इस पराजय की खबर पहुँची, तो घर-घर कुहराम मच गया। ऐसा कोई कुल न था, जिसका एक-न-एक सपूत रणदेवी की वलि न हुआ हो। मेवाड़ का बच्चा-बच्चा आज तक हल्दीघाटी के नाम पर गर्व करता है। भाट और कवीश्वर गलियों और सड़कों पर हल्दीघाटी की घटना सुनाकर लोगों को रुलाते हैं, और जब तक मेवाड़ का कोई

कवीश्वर जिंदा रहेगा और उसके हृदयस्पर्शी कवित्व की कदर करने वाले बाकी रहेंगे, तब तक हल्दीघाटी की याद हमेशा ताजी रहेगी।

उधर राणा अपने स्वामिभक्त घोड़े चेतक पर सवार अकेला एकदम चल निकला। दो मुगल सरदारों ने उसे पहचान लिया और उसके पीछे घोड़े डाल दिए। अब आगे-आगे जख्मी राणा बढ़ा जा रहा है, उसके पीछे-पीछे दोनों सरदार घोड़ा दबाए बढ़े आते हैं। चेतक भी अपने मालिक की तरह जख्मों से चूर है। वह कितना ही जोर मारता, कितना ही जी तोड़कर कदम उठाता, पर पीछा करनेवाले निकट आते जा रहे हैं। अब उनके पाँवों की चाप सुनाई देने लगी। अब वह पहुँच गए। राणा का तेगा साँस लेता कि यकायक उसे कोई पीछे से ललकारता है, 'ओ नीले घोड़े के सवार! ओ नीले घोड़े के सवार!' बोली और ध्वनि बिलकुल मेवाड़ी है। राणा भौंचक्का होकर पीछे देखता है, तो उसका चचेरा भाई शक्त चला आ रहा है।

शक्त प्रताप से नाराज़ होकर अकबर से जा मिला था और उस समय शाहजादा सलीम के सथियों में था। पर जब उसने नीले घोड़े के सवार को जख्मों से चूर, बिलकुल अकेला मैदान से जाते हुए देखा, तो बिरादराना खून जोश में आ गया। पुरानी शिकायतें और मैल दिल से बिलकुल धुल गए और तुरंत पीछा करनेवालों में जा मिला और अंत में अपने भालों से धराशायी करता हुआ राणा तक पहुँच

उस समय अपने जीवन में पहली वार दोनों भाई वंधुत्व और अपने मन के सच्चे जोश से गले-गले मिले । यहाँ स्वामिभक्त चेतक ने दम तोड़ दिया । शक्त ने अपना घोड़ा भाई के नज़र किया । राणा ने जव चेतक की पीठ से जीन उतारकर उस नए घोड़े की पीठ पर रखी, तो वह फूट-फूटकर रो रहा था । उसे किसी सगे-सम्बन्धी के मर जाने का इतना दुःख न हुआ था । क्या सिकंदर का घोड़ा वस्फाला चेतक से अधिक स्वामीभक्त था ? पर उसके स्वामी ने उसके नाम पर नगर बसा दिया था । राणा का वह विपत्-काल था । उसने केवल आँसू बहाकर ही संतोष किया । आज उस स्थान पर एक टूटा-फूटा चबूतरा दिखाई देता है, जो चेतक के स्वामी पर प्राण निछावर कर देने का साक्षी है ।

शाहज़ादा सलीम विजय-दुंदुभी बजाता हुआ पहाड़ियों से निकला । उस समय तक बरसात का मौसम शुरू हो गया था और चूँकि जलवायु के विचार से यह काल उन पहाड़ियों में बड़े कष्ट का होता है, इसलिए राणा को तीन-चार महीने इतमीनान रहा, पर वसंत-काल आते ही शत्रु-सेना ने फिर धावा किया । महावत खाँ उदयपुर पर हुकूमत कर रहा था, कोका शाहबाज खाँ ने कुंभलमेर को घेर लिया । राणा और उसके साथियों ने यहाँ भी खूब वीरता दिखाई । पर किसी घर के भेदी ने, जो अकबर से मिला हुआ था, किले के भीतर कुएँ में ज़हर मिला दिया और राणा को वहाँ से निकल जाने के सिवा और कोई रास्ता न दिखाई दिया । फिर

भी उसके एक सरदार ने, जिसका नाम भानु था, मरते दम तक किले को दुश्मनों से बचाए रखा। उसके वीरगति प्राप्त कर लेने के बाद इस किले पर भी अकबरी झंडा फहराने लगा।

कुंभलमेर पर कब्जा कर लेने के बाद राजा मानसिंह ने धरमेती और गोगंडा के किलों को जा घेरा। अब्दुल्ला नाम के एक और सरदार ने दक्षिण दिशा से चढ़ाई की। फरीद खाँ ने छप्पन पर हमला किया। इस प्रकार चारों ओर से घिरकर प्रताप के लिए अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने के सिवा और कोई रास्ता न रहा; पर वह शेरदिल राजपूत उसी दमखम, उसी हिम्मत व हौसले और उसी दृढ़ता के साथ शत्रु का सामना करता रहा। कभी अँधेरी रात में जब शाही फौज बेखबर सोती होती, वह अचानक अपनी घात की जगह से निकल पड़ता, इशारों से अपने साथियों को इकट्ठा कर लेता और जो शाही फौज करीब होती, उसी पर चढ़ दौड़ता। फरीद खाँ को, जो राणा को गिरफ्तार करने के लिए जंजीर बनवाए बैठा था, उसने ऐसी चतुराई से एक दुर्गम घाटी में जा घेरा कि उसकी सेना का एक भी आदमी जीवित न बचा।

आखिर शाही फौज भी इस ढंग की लड़ाई से ऊब गई। मैदानों के लड़नेवाले मुगल पहाड़ों में लड़ना क्या जानें। उस पर से जब वर्षा आरंभ हो जाती, तो चौतरफा महामारी फैल जाती। यह बरसात के दिन प्रताप के लिए जरा दम लेने के दिन थे। इसी तरह कई बरसात बीत गए। प्रताप के साथियों

में से कुछ ने तो लड़कर वीरगति प्राप्त की, कुछ यों ही मर-खप लए। कुछ जो जरा बोदे थे, इधर-उधर दबक रहे। रसद और खुराक के लाले पड़ गए। प्रताप को सदा यह खटका लगा रहता कि कहीं मेरे लड़के-बाले शत्रु के पंजे में न फँस जायँ। एक बार वहाँ के जंगली भीलों ने उनको शाही फौज से बचाया और एक टोकरे में रखकर जावरा की खानों में छिपा दिया, जहाँ वह उनकी सब प्रकार रक्षा और देखभाल करते रहे। वह बल्ले और जंजीरें अभी तक मौजूद हैं, जिनमें यह टोकरे लटका दिये जाते थे, जिसमें हिंस्र जंतुओं से बच्चों को डर न रहे। ऐसे-ऐसे कष्ट-कठिनाइयाँ झेलने पर भी प्रताप का अटल निश्चय तनिक भी न हिला। वह अब भी किसी गुफ़ा में अपने मुट्ठी भर आख़िरी दम तक साथ देनेवाले और सब प्रकार का अनुभव रखनेवाले साथियों के बीच उसी आनबान के साथ बैठता, जैसे राजसिंहासन पर बैठता था। उनके साथ उसी राजसी ढंग से बर्ताव करता। ज्योनार के समय खास-खास आदमियों को दोने प्रदान करता। यद्यपि यह दोने महज जंगली फलों के होते थे, परंतु पानेवाले उन्हें बड़े आदर-सम्मान के साथ लेते, माथे चढ़ाते और प्रसादवत् भोजन करते थे।

इसी वज्र सी दृढ़ता ने राणा को राजस्थान के संपूर्ण राजाओं की निगाह में हीरो—आदर्श वीर बना दिया। जो लोग अकबर के दरबारी बन गए थे, वह भी अब राणा के नाम पर गर्व करने लगे। अकबर जो प्रकृति के दरबार से

वीरता और मर्दानगी लेकर आया था और बहादुर दुश्मन की कद्र करना जानता था, खुद भी अपने सरदारों से प्रताप की वीरता और साहस की सराहना करता। दरबार के कवि राणा की बड़ाई में पद्य रचने लगे। अब्दुर्रहीम खानखाना ने, जो हिंदी-भाषा में बड़ी सुन्दर कविता करते थे, मेवाड़ी भाषा में राणा की वीरता का बखान किया। वाह! कैसे गुणज्ञ और उदार हृदय लोग थे कि शत्रु की वीरता को सराहकर उसका दिल बढ़ाते और हौसले उभारते थे।

पर कभी-कभी ऐसे भी अवसर आ जाते कि अपने कुटुम्बियों, प्यारे बच्चों के कष्ट उससे न देखे जाते। उस समय उसका दिल बैठ जाता और अपने हाथ छाती में छुरी भोंक लेने को जी चाहता। शाही फौज ऐसी घात में लगी रहती कि पका हुआ खाना खाने की नौबत न आती। भोजन के लिए हाथ-मुँह धो रहे हैं कि जासूस ने खबर दी, शाही फौज आ गई और तुरंत सब छोड़-छाड़ भागे।

एक दिन राणा एक पहाड़ी दर्रे में लेटा हुआ था। रानी और उसकी पुत्रवधू कंद-मूल की रोटियाँ पका रही थीं। बच्चे खाना पाने की खुशी में इधर-उधर कुलेलें करते फिरते थे। आज पाँच फ़ाँके गुजर चुके थे। राजा न जाने किस विचार-सागर में डूबता-उतराता बच्चों की चेष्टाओं को निराशा-भरी आँखों से देख रहा था। हा! यह वह बच्चे हैं, जिनको मखमली गद्दों पर नींद न आती थी, जो दुनिया की नियामतों की ओर आँख उठाकर न देखते थे, जिनको अपने-बेगाने

गोद की जगह सिर-आँखों पर बिठाते थे, आज उनकी यह हालत है कि कोई बात नहीं पूछता, न कपड़े, न लत्ते, कंदमूल की रोटियों की आशा पर मगन हो रहे हैं और उछल-कूद रहे हैं।

वह इन्हीं दिल बैठा देनेवाले विचारों में डूबा हुआ था कि अचानक अपनी प्यारी बेटी की जोर की चीख ने उसे चौंका दिया। देखता है, तो एक जंगली बिल्ली उसके हाथ से रोटी छीने लिये जा रही है और वह बेचारी बड़े करुण स्वर में रो रही है। हाय! बेचारी क्यों न रोए? आज पाँच, फाँकों के बाद आधी रोटी मिली थी, फिर नहीं मालूम कै कड़ाके गुजरेंगे? यह देखकर राणा की आँखों में आँसू उमड़ आए। उसने अपने जवान बेटों को रणभूमि में अपनी आँखों से दम तोड़ते देखा था; पर कभी उसका हृदय कातर न हुआ था, कभी आँखों में आँसू न आये थे। मरना-मारना तो राजपूत का धर्म है। इस पर कोई राजपूत क्यों आँसू बहाए? पर आज इस बालिका के विलाप ने उसे विवश कर दिया। आज क्षण भर के लिए उसकी दृढ़ता के पाँव डिग गए। कुछ क्षण के लिए मानव-प्रकृति ने वैयक्तिक विशेषत्व को पराजित कर दिया।

सहृदय व्यक्ति जितने ही शूर और साहसी होते हैं, उतने ही कोमलचित्त भी होते हैं। नेपोलियन बोनापार्ट ने हजारों आदमियों को मरते देखा था और हजारों को अपने ही हाथों खाक पर सुला दिया था। पर एक भूखे, दुबले,

कमजोर कुत्ते को अपने मालिक की लाश के इधर-उधर मँडराते देख, उसकी आँखों से अश्रुधारा उमड़ पड़ी। राणा ने लड़की को गोद में ले लिया और बोला—धिक्कार है मुझको कि केवल नाम के राजत्व के लिए अपने प्यारे बच्चों को इतने क्लेश दे रहा हूँ। उसी समय अकबर के पास पत्र भेजा कि अब कष्ट सहे नहीं जाते, मेरी दशा पर कुछ दया कीजिए।

अकबर के पास यह संदेशा पहुँचा तो मानो कोई अप्रत्याशित वस्तु मिल गई। खुशी के मारे फूला न समाया। राणा का पत्र दरबारियों को सगर्व दिखाने लगा। मगर दरबार में अगुणज्ञ लोग बहुत कम होंगे, जिन्होंने राणा की अधीनता के समाचार को प्रसन्नता के साथ सुना हो। राजे-महाराजे यद्यपि अकबर की दरबारी करते थे, पर स्वजाति के अभिमान के नाते सबके हृदय में राणा के लिए सम्मान का भाव था। उनको इस बात का गर्व था कि यद्यपि हम पराधीन हो गए हैं, पर हमारा एक भाई अभी तक स्वाधीन राजत्व का डंका बजा रहा है! और क्या आश्चर्य कि कभी-कभी अपने दिलों में इतने सहज में वश्यता स्वीकार कर लेने पर लज्जा भी अनुभव करते हों। इनमें बीकानेर नरेश का छोटा भाई पृथ्वीसिंह भी था, जो बड़ा तलवार का धनी और शूरवीर था। राणा के प्रति उसके हृदय में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। उसने जो यह खबर सुनी, तो विश्वास न हुआ। पर राणा की लिखावट देखी, तो दिल को गहरी चोट पहुँची। खानखाना की तरह वह भी न केवल तलवार का धनी था,

बल्कि सहृदय कवि भी था और वीर-रस के छंद रचा करता था। उसने अकबर से राणा के पास पत्र भेजने की अनुमति प्राप्त कर ली—इस बहाने से कि मैं उसके अधीनता स्वीकारने के समाचार की प्रामाणिकता की जाँच करूँगा। पर उस पत्र में उसने अपना हृदय निकालकर रख दिया। ऐसे-ऐसे वीर-रस भरे, ओजस्वी और उत्साह-वर्द्धक पद्य लिखे कि राणा के दिल पर वीर-विरुदावली का काम कर गए। उसके दबे हुए हौसलों ने फिर सिर उभारा, आजादी का जोश फिर मचल उठा और अधीनता स्वीकारने का विचार कपूर की तरह मन से उड़ गया।

पर अबकी बार उसके विचारों ने कुछ और ही रूप ग्रहण किया। बार-बार की हार और विफलता ने उस पर साबित कर दिया कि इने-गिने साथियों और पुराने जंग खाए हुए हथियारों से अकबरी प्रताप के प्रवाह को रोकना अति कठिन ही नहीं, किंतु असंभव है, अतः क्यों न उस देश को, जहाँ से स्वाधीनता सदा के लिए चली गई, अंतिम नमस्कार करके किसी ऐसे स्थान पर सिसौदिया कुल का केसरिया झंडा गाड़ा जाए, जहाँ उसके झुकने का कोई डर ही न हो। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद यह सलाह तै पायी कि सिंधु नदी के तट पर, जहाँ पहुँचने में शत्रु को एक रेगिस्तान पार करना पड़ेगा, नया राज्य स्थापित किया जाय।

कैसा विशाल हृदय और कितनी ऊँची हिम्मत थी कि इतनी पराजयों के बाद भी ऐसे ऊँचे इरादे दिल में पैदा होते

थे। यह विचार पक्का करके राणा अपने कुटुम्बियों और बचे-खुचे साथियों को लेकर इस मुहीम पर चल खड़ा हुआ। अरावली के पश्चिमी अंचल को पार करता हुआ मरुभूमि के किनारे तक जा पहुँचा। पर इस बीच एक ऐसी शुभ घटना घटित हुई, जिसने उसका विचार बदल दिया और उसे अपनी प्रिय जन्मभूमि को लौट आने की प्रेरणा दी।

राजस्थान का इतिहास केवल प्राणोत्सर्ग और लोकोत्तर वीरता की कथाओं से ही नहीं भरा हुआ है, स्वामिभक्ति और वफ़ादारी के सतत स्मरणीय और गर्व करने योग्य दृष्टांत भी उसमें उसी तरह भरे पड़े हैं। भामाशाह ने, जिसके पुरखे चित्तौड़ राज्य के मंत्री रहे, जब अपने मालिक को देश-त्याग करते हुए देखा, तो नमकख्वारी का जोश उमड़ आया। हाथ बाँधकर राणा की सेवा में उपस्थित हुआ और बोला—महाराज, मैंने अनेक पीढ़ियों से आपका नमक खाया है, मेरी जमाजथा जो कुछ है, आप ही की दी हुई है। मेरी देह भी आप ही की पालीपोसी हुई है। क्या मेरे जीते-जी अपने प्यारे देश को आप सदा के लिए त्याग देंगे? यह कहकर उस वफ़ादारी के पुतले ने अपने खजाने की कुंजी राणा के चरणों में रख दी। कहते हैं कि उस खजाने में इतनी दौलत थी कि उससे २५ हजार आदमी १२ साल तक अच्छी गुजर कर सकते थे। उचित है कि आज जहाँ राणा प्रताप के नाम पर श्रद्धा के हार चढ़ाए जाएँ; वहाँ भामाशाह के नाम पर भी दो-चार फूल बिखेर दिये जाएँ।

कुछ तो इस प्रचुर धनराशि की प्राप्ति और कुछ पृथ्वीसिंह की वीर भाव-भरी कविता ने राणा के डगमगाते हुए मन को फिर दृढ़ कर दिया। उसने अपने साथियों को, जो इधर-उधर बिखर गए थे, झटपट फिर जमा कर लिया। शत्रु तो निश्चित बैठे थे कि अब यह बला अरावली के उस पार रेगिस्तान से सर मार रही होगी कि राणा अपने दल के साथ शेर की तरह टूट पड़ा और कोका शाहबाज खाँ को, जो दोयर में सेना लिये निश्चित पड़ा था, जा घेरा। दम-के-दम में सारी सेना धराशायी बना दी गई। अभी शत्रु पक्ष पूरी तरह सजग न होने पाया था कि राणा कुंभलमेर पर जा डटा और अब्दुल्ला तथा उसकी सेना को तलवार के घाट उतार दिया। जब तक बादशाही दरबार तक खबर पहुँचे-पहुँचे, राणा का केसरिया झंडा, दूर किलों पर लहरा रहा था। साल भर भी न गुजरा था कि उसने अपने हाथ से गया हुआ राज्य लौटा लिया। केवल चित्तौड़, अजमेर और गढ़मंडल पर कब्जा न हो सका। इसी हल्ले में उसने मानसिंह का भी थोड़ा मान-मर्दन कर दिया। अलवर पर चढ़ दौड़ा और वहाँ की मशहूर मंडी मालपुरा को लूट लिया।

मन में प्रश्न उठता है कि अकबर ने राणा को क्यों इतमीनान से बैठने दिया? उसकी शक्ति अब पहले से बहुत अधिक हो गई थी, उसके साम्राज्य की सीमाएँ दिन-दिन अधिक विस्तृत होती जाती थी। जिधर रुख करता, उधर ही विजय हाथ बाँधे खड़ी रहती। सरदारों में एक-से-एक प्रौढ़

अनुभव वाले रणकुशल योद्धा विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में वह राणा की इन ज्यादतियों को क्यों चुपचाप देखता रहा? शायद इसका कारण यह हो कि वह इन दिनों दूसरे देश जीतने में उलझा हुआ था, या यह कि अपने दरबार को राणा से सहानुभूति रखनेवाला पाकर उसे फिर छेड़ने की हिम्मत न हुई हो। जो हो, उसने निश्चय कर लिया कि राणा को उन पहाड़ियों में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय। पर साथ ही निगाह रखी जाय कि वह मैदान की ओर न बढ़ सके।

राणा की जगह कोई और आदमी होता, तो इस शांति और आराम को हजार गनीमत समझता और इतने कष्ट झेलने के बाद इस विश्रांति-लाभ को ईश्वरीय सहायता समझता। पर महत्वाकांक्षी राणा को चैन कहाँ? जब तक वह अकबर से लोहा ले रहा था, जब तक अकबर की सेना उसकी खोज में जंगल-पहाड़ से सिर टकराती फिरती थी, तब तक राणा के हृदय को संतोष न था। जब तक यह चिंता अकबर के प्राणों को जला रही थी, तब तक राणा के दिल में ठंडक थी। वह सच्चा राजपूत था। शत्रु के क्रोध, कोप, घृणा यहाँ तक कि तिरस्कार भाव को भी सहन कर सकता था, पर उसका दिल भी इसको बर्दाश्त न कर सकता था कि कोई उसे दया-दृष्टि से देखे या उस पर तरस खाय। उसका स्वाभिमानी हृदय कभी इसे सहन न कर सकता था।

जो हृदय अपनी जाति की स्वाधीनता पर बिका हो, उसे एक पहाड़ी में बंद रहकर राज्य करने से क्या संतोष

हो सकता था ? वह कभी-कभी पहाड़ियों से बाहर निकल-कर उदयपुर और चित्तौड़ की ओर आकांक्षा भरी दृष्टि से देखता कि हाय, अब यह फिर मेरे अधिकार में न आएँगे ! क्या यह पहाड़ियाँ ही मेरी आशाओं की सीमा हैं ? अक्सर वह अकेले और पैदल ही चल देता और पहाड़ के दर्रों में घंटों बैठकर सोचा करता। उसके हृदय में उस समय स्वाधीनता की उमंग का समुद्र ठाठें मारने लगता, आँखें सुर्ख हो जातीं, रगें फड़कने लगतीं, कल्पना की दृष्टि से वह शत्रु को आते देखता और फिर अपना तेगा सँभालकर लड़ने को तैयार हो जाता। हाँ, मैं बप्पा रावल का वंशधर हूँ। राणा साँगा मेरा दादा था, मैं उसका पोता हूँ। वीर जगमल मेरा एक सरदार था। देखो तो मैं यह केसरिया झंडा कहाँ-कहाँ गाड़ता हूँ ! पृथ्वीराज के सिंहासन पर न गाड़ूँ, तो मेरा जीना अकारथ है।

यह विचार, यह मंसूबे, यह अंतर्ज्वार, यह जोशे-आजादी सदा उसके प्राणों को जलाती रही। और अन्त में इसी अंतर की आग ने उसे समय से पहले ही मृत्यु-शय्या पर सुला दिया। उसके गैंडे के-से बलिष्ठ अंग-प्रत्यंग और सिंह का-सा निडर हृदय भी इस अग्नि की जलन को अधिक दिन सह न सके। अंतिम क्षण तक देश और जाति की स्वाधीनता का ध्यान उसे बना रहा।

उसके सरदार, जिन्होंने उसके साथ बहुत से अच्छे-बुरे दिन देखे थे, उसकी चारपाई के इर्द-गिर्द शोक में डूबे और आँखों में आँसू भरे खड़े थे। राणा की टकटकी

दीवार की ओर लगी हुई थी और कोई खयाल उसे बेचैन करता हुआ मालूम होता था।

एक सरदार ने कहा—महाराज, राम नाम लीजिए। राणा ने मृत्यु-यन्त्रणा से कराहकर कहा—'मेरी आत्मा को तब चैन होगा कि तुम लोग अपनी-अपनी तलवारें हाथ में लेकर कसम खाओ कि हमारा यह प्यारा देश तुर्कों के कब्जे में न जायगा। तुम्हारी रगों में जब तक एक बूँद भी रक्त रहेगा, तुम उसे तुर्कों से बचाते रहोगे। और बेटा अमरसिंह, तुमसे विशेष विनती है कि अपने बाप-दादों के नाम पर धब्बा न लगाना और स्वाधीनता को सदा प्राण से अधिक प्रिय मानते रहना। मुझे डर है कि कहीं विलासिता और सुख की कामना तुम्हारे हृदय को अपने वश में न कर ले, और तुम मेवाड़ की उस स्वाधीनता को हाथ से खो दो, जिसके लिए मेवाड़ के वीरों ने अपना रक्त बहाया।'

संपूर्ण उपस्थित सरदारों ने एक स्वर से शपथ की कि जब तक हमारे दम-में-दम है, हम मेवाड़ की स्वाधीनता को कुदृष्टि से बचाते रहेंगे।

प्रताप को इतमीनान हो गया और सरदारों को रोता-बिलखता छोड़, उसकी आत्मा ने पार्थिव चोले को त्याग दिया। मानो मौत ने उसे अपने सरदारों से यह कसम लेने की मुहलत दे रखी थी।

इस प्रकार उस सिंह-विक्रम राजपूत के जीवन का अवसान हुआ, जिसकी विजय की गाथाएँ और विपदा की

कहानियाँ मेवाड़ के बच्चे-बच्चे की जबान पर हैं। जो इस योग्य है कि उसके नाम के मंदिर गाँव-गाँव, नगर-नगर में निर्माण किए जायँ और उनमें स्वाधीनता देवी की प्रतिष्ठा तथा पूजा की जाय। लोग जब उन मंदिरों में जाएँ, तो स्वाधीनता का नाम लेते हुए जायँ और इस राजपूत की जीवन-कथा से सच्ची आजादी का सबक सीखें।

●

रणजीतसिंह

भारत के पुराने शासकों में शायद ही कोई ऐसा होगा, जिस पर यूरोपीय ऐतिहासिकों और अन्वेषकों ने इतने विस्तार के साथ आलोचना की हो, जितना पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह पर। उनके चरित्र और स्वभाव, उनकी न्यायशीलता, उनके शौर्य और पराक्रम, उनकी प्रबंध-पटुता, उनके उत्साह-पूर्ण आतिथ्य-सत्कार और अन्य गुणों तथा विशेषताओं के संबंध में प्रतिदिन इतनी वार्ताएँ प्रसिद्ध होती थीं, कि यूरोप के मनचले ग्रन्थकारों और पर्यटकों के मन में अपने-आप यह उत्सुकता उत्पन्न हो जाती थी कि चलकर ऐसे विलक्षण और गुण-गरिष्ठ व्यक्ति को देखना चाहिए। और उनमें से जो आता, वह महाराज के सुन्दर गुणों की एक ऐसी गहरी छाप दिल पर लेकर जाता, जो उनकी सराहना में दफ्तर के दफ्तर रँग डालने पर भी तृप्त न होती थी।

सिराजुद्दौला, मीर जाफर और अवध के नवाबों का हाल पढ़-पढ़कर यूरोप में आम खयाल हो गया था कि भारत में यह योग्यता ही नहीं रही कि ऊँचे दरजे के राजनीतिज्ञ और शासक उत्पन्न कर सके। अधिक-से-अधिक वहाँ कभी-कभी लुटेरे सिपाही निकल खड़े होते हैं और बस। पर महाराज रणजीतसिंह के व्यक्तित्व ने इस धारणा का बड़े जोर के साथ खंडन कर दिया, और यूरोपवालों को दिखा दिया कि विभूतियों को उत्पन्न करना किसी विशेष देश या जाति का विशेषा-

धिकार नहीं है, किंतु ऐसे महिमाशाली पुरुष प्रत्येक जाति और प्रत्येक काल में उत्पन्न होते रहते हैं। और यद्यपि रणजीत सिंह के अनेक चरित्र-लेखकों पर इस सामान्य कुधारणा का असर बना है, और उनके चरित्र का अध्ययन करने में वह इस भावना को अलग नहीं रख सके, फिर भी महाराज की अपनी खास खूबियों ने जो कुछ बरबस उनकी लेखनी से लिखवा लिया, वह इस बात को प्रमाणित कर देता है कि १८ वीं शताब्दी में नेपोलियन बोनापार्ट को छोड़कर कोई ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ। बल्कि उस परिस्थिति को देखते हुए, जिसके भीतर रणजीतसिंह को काम करना पड़ा, कह सकते हैं, कि शायद नेपोलियन में भी वह योग्यताएँ न थीं जो महाराज में एकत्र हो गई थीं।

फ्रांस स्वाधीन देश था और वहाँ के दार्शनिकों ने जन-साधारण में प्रजातंत्र के विचार फैला दिये थे। नेपोलियन को अधिक-से-अधिक इतना ही करना पड़ा कि मौजूद और तैयार मसाले को इकट्ठा कर उससे एक इमारत खड़ी कर ली। इसके विपरीत भारत कई सौ साल से पीसा-कुचला जा रहा था, और रणजीतसिंह को उनसे निबटना पड़ा, जो लम्बे अरसे तक भारत के भाग्य-विधाता रह चुके थे। निस्संदेह, सेनापति रूप में नेपोलियन का पद ऊँचा है, पर शासन-प्रबंध की योग्यता से महाराज रणजीतसिंह उससे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। यद्यपि उनका स्थापित किया हुआ राज्य उनके बाद अधिक दिन टिक न सका, पर इसमें स्वयं उनका कोई दोष

नहीं। इसकी जिम्मेदार वह आपस की बैर और फूट है, जिसने सदा इसकी दुर्दशा करायी और जिसे महाराज रणजीतसिंह भी दिलों से दूर कराने में सफल न हो सके।

रणजीतसिंह के जन्म और बचपन का समय भारत में बड़ी हलचल और परिवर्तन का काल था। वह सिख जाति, जो गुरु गोबिंदसिंह के दिलो-दिमाग़ से उपजी थी और कई शहीदों ने जिसे अपने बहुमूल्य रक्त से सींचकर जवान किया था, साहस और वीरत्व के मैदान में अपनी पताका फहरा चुकी थी। सन् १७६२ ई० से, जब सिखों ने सरहिंद का किला जीता और जिसे अहमदशाह अब्दाली भी उनसे न छीन सका, सिखों का बल-प्रभाव वृद्धि पर था। पर यह जातीय भाव, जो कुछ दिनों के लिए उनके हृदयों में तरंगित हो उठा था, विदा हो चुका था। दलबंदी का बाजार गरम था और कितनी ही मिसलें क़ायम हो गई थीं, जिनमें दिन-रात मार-काट मची-रहती थी। जिस विशेष लक्ष्य को लेकर सिख जाति उत्पन्न हुई थी, वह यद्यपि कुछ अंशों में पूरा हो चुका था, पर उसकी पूर्ण सिद्धि के पहले ही खुद उन्हीं में फूट फैलाने-वाली ताक़तों ने ज़ोर पकड़ लिया और मुख्य उद्देश्य उपेक्षित हो गया। १८वीं शताब्दी के अंत में मुल्क की हालत बहुत नाजुक हो रही थी। निरंकुशता और उच्छृङ्खलता का राज था। जिस किसी ने कुछ लुटेरे सिपाहियों को जमा कर एक दल बना लिया, वह अपने किसी कमजोर पड़ोसी को दबा कर अपनी चार दिन की हुकूमत क़ायम कर लेता था और

कुछ दिन वाद उसे भी किसी अधिक बलवान व्यक्ति के लिए जगह खाली करनी पड़ती थी। न कोई कानून था, न कोई सुव्यवस्थित शासन। शांति और लोक रक्षा अनाथ वच्चों की भाँति आश्रय ढूँढ़ती फिरती थीं।

हर गाँव का राजा जुदा, क़ानून जुदा और दुनिया जुदी थी। भाईचारा सिख-वंश की एक प्रमुख विशेषता है। और केवल वही क्या, सभी धर्मों; मजहवों में मानव बंधुत्व की शिक्षा विद्यमान है। यह शिक्षा उच्च और पवित्र है। किसी आदमी को क्या हक़ है कि दूसरे को अपने अधीन रखे और उनके अस्तित्व से खुद फ़ायदा उठाए? संसार के सुखों में हर आदमी का हिस्सा बराबर है। सिख जाति ने जब तक इस भाव का आदर किया, इसे बरता और इसका अनुसरण किया, तब तक उसका बल बढ़ता गया। पर जब अहंकार और स्वार्थ-परता, लोभ और दंभ ने सिखों के दिलों में घर कर लिया, धन और अधिकार की चाट पड़ी, तो भाईचारे के भाव को गहरा धक्का पहुँचा, जिसका फल यह हुआ कि राज्यों की स्थापना हो गई और भाई-भाई में मार-काट मचने लगी। गुरु गोविंदसिंह ने भाईचारे का जोश पैदा किया, पर उस पारस्परिक सहानुभूति का बल न उत्पन्न कर सके, जो भाई-चारे के कवच का काम करता है।

रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० ई० में गुजरानवाला स्थान में हुआ। आम खयाल है कि उनके पिता एक गरीब जमींदार थे, पर यह ठीक नहीं है। उनके पिता सरदार महान-

सिंह सकर चकिया मिसिल के सरदार और बड़े प्रभावशाली पुरुष थे। पर २७ वर्ष ही की अवस्था में स्वर्ग सिधार गए। रणजीतसिंह उस समय कुल जमा १० साल के थे और इसी उम्र में उनके सिर पर भयावह जिम्मेदारियों का बोझ आ पड़ा। परन्तु अकबर की तरह वह भी प्रबंध और संगठनों की योग्यता माँ के पेट से लेकर निकले थे, और इस दस वर्ष की वय में ही कई लड़ाइयों में अपने पिता के साथ रह चुके थे। एक दिन एक भयानक युद्ध में वह बाल-बाल बचे। मानो उनका शैशव रणक्षेत्र में ही बीता और युद्ध के विद्यालय में ही उन्होंने शिक्षा पायी।

८-१० साल का बच्चा! उसकी आँखों से नित्य मार-काट के दृश्य गुजरते होंगे। कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों को चौपाल में बैठकर किसी पड़ोसी सरदार पर हमला करने के मंसूबे बाँधते या किसी बलवान् सरदार के आक्रमण से बचने के उपाय सोचते देखता होगा, और यह अनुभव उसके कोमल संस्कारग्राही चित्त पर क्या कुछ छाप न छोड़ जाते होंगे? परवर्ती घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि यह अल्पवस्यक बालक तीक्ष्ण बुद्धि और प्रतिभावान् था, और जो शिक्षाएँ उसे मिलीं, उसके जीवन का अंग बन गईं। उसने जो कुछ देखा, शिक्षा ग्रहण करनेवाली दृष्टि से देखा।

१२ वर्ष की अवस्था में वह सकर चकिया मिसिल का सरदार क़रार दिया गया और २०वें साल में कुछ अपनी बहादुरी और कुछ जोड़-होड़बाजी से लाहौर का राजा बन

बैठा। इसका वृत्तांत मनोरंजक है। सन् १७६८ ई० में अहमदशाह अब्दाली का पोता अपने दादा के जीते हुए प्रदेशों पर अधिकार-स्थापना के इरादे से हिंदुस्तान पर चढ़ा और लाहौर तक चला आया। उसका विचार था कि टिककर संबद्ध स्थानों से ख़िराज वसूल करे। पर इसी बीच उसे स्वदेश में विप्लव की खबर मिली। घबराकर लौटा। झेलम बाढ़ पर थी, बार-बरदारी का इंतजाम खराब। उसकी कई तोपें उसके साथ न जा सकीं! संयोगवश रणजीतसिंह वहीं पास में ही थे। शाह जमां से मिले, तो उसने कहा—अगर तुम मेरी तोपें फारस भिजवा दो, तो इसके बदले में तुम्हें लाहौर दे दूँ। रणजीत-सिंह ने यह शर्त बड़ी खुशी से मंजूर कर ली। यद्यपि शाह जमां का यह वादा कोई अर्थ न रखता था और रणजीतसिंह स्वयं शक्तिशाली न होते, तो उससे कुछ भी लाभ न उठा सकते। पर उनके निजी बल और प्रभाव पर इस प्रतिज्ञा से दुहरी चाशनी चढ़ गई। इसके थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने अमृतसर पर भी कब्जा कर लिया और अब उनकी शक्ति और दबदबे के आगे सब मिसिलें धूमिल पड़ गईं।

यूरोपीय वृत्त-लेखकों ने रणजीतसिंह पर स्वार्थपरता, विश्वासघात, निर्दयता, बेवफाई, आदि के दोष लगाए हैं और उनके फ़तवे किसी हद तक सही भी हैं। राजनीति में पुराने आचार्यों ने भी थोड़ी-बहुत चालबाजी और कठोरता की इजाजत दी है, जिसे दूसरे शब्दों में बेवफ़ाई और बेरहमी कह सकते हैं। इन उपायों के बिना राज्य का नवरोपित बिरवा

कभी जड़ नहीं पकड़ सकता । रही स्वार्थपरता की बात, सो यह दोप हर आदमी पर सामान्यतः और हर एक राजा पर विशेपतः घटित हो सकता है । आज तक किसी जाति में कोई ऐसा बादशाह नहीं हुआ, जिसने किसी जाति पर केवल सदुद्देश्य, मानव-हित या परोपकार की भावना से राज्य किया हो, बल्कि हमें तो इसके मानने में भी हिचक है कि यह नेक-नीयती स्वार्थ को दबाए हुए थी । स्वार्थ शासन के मूल में ही बैठा हुआ है । यह भी ध्यान रहे कि रणजीतसिंह के वचन, व्यवहार और राजनीति को आज की नैतिक कसौटी पर कसना न्याय नहीं है । रणजीतसिंह ने लाहौरी दरबार की रंगभूमि पर जब अपना अभिनय किया था, उसको सौ साल का जमाना बीत चुका और इन वर्षों में सभ्यता, सदाचार और सामाजिक जीवन के आदर्श बहुत आगे निकल गए हैं ।

नीति और सदाचार का मानदंड प्रत्येक युग में बदलता रहता है । जो काम आज से १०० साल पहले जायज समझा जाता था, आज अविहित है, और संभव है कि बहुत-सी बातें, जिन्हें आज हम बेझिझक करते हैं, १०० साल बाद लज्जा-जनक समझी जाने लगें । सौ साल का जमाना तो बहुत होता है, अभी २५ साल से अधिक नहीं बीते, जब होली के दिनों में हर शहर के विलासप्रिय रईसों को मंडलियों के साथ नशे में झूमते हुए गलियों की सैर करते देखना साधारण बात थी, पर अब यह लज्जाजनक समझा जाता है; बल्कि कोई भला आदमी आज शराब पीकर पब्लिक में निकलने की हिम्मत न करेगा ।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अगर हम रणजीतसिंह के आचरणों को जाँचें-परखें, तो हम निश्चय ही इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि शासक के मानदंड से देखते हुए उनसे बहुत कम ऐसे कर्म हुए हैं, जिन पर उन्हें लज्जित होना पड़े। पर हाँ, इस मानदंड की शर्त है।

महाराज रणजीतसिंह बड़े ही स्थिरचित्त, परिश्रमी और परिणामदर्शी व्यक्ति थे। उनकी हिम्मत ने हारना सीखा ही न था। श्रमशीलता और कष्ट-सहिष्णुता का यह हाल था कि अक्सर दिन का दिन घोड़े की पीठ पर ही बीत जाता। सूझ-बूझ उनकी जबरदस्त थी। पुस्तकीय विद्या से बिलकुल कोरे थे। पर विद्वानों के साथ वार्तालाप और पर्यवेक्षण के द्वारा अपनी जानकारी इतनी बढ़ा ली कि यूरोपीय यात्रियों को उनकी बहुश्रुतता पर आश्चर्य होता था। साहस तो उनका स्वभाव ही था। साहसिक कार्यों के, खासकर साहस-भरी यात्राओं के वृत्तांत बड़ी रुचि से सुनते थे। यूरोप की नई खोजों और आविष्कारों का पता रखने को उत्सुक रहते थे। उनका पहनावा बहुत सादा और बनावट से खाली होता था। और यद्यपि देखने में सुन्दर न थे, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि कुरूप थे और डील-डौल के विचार से भी कुछ अधिक भाग्यशाली न थे, पर उनके गुणों ने इन बाह्य दोषों को छिपा लिया था। चेहरे पर चेचक के भद्दे दाग थे, और एक आँख भी उसकी नजर हो चुकी थी, फिर भी मुख-पर एक तेज बरसा करता था। फ़क़ीर अजीजुद्दीन

लाहौर दरबार में परराष्ट्र सचिव पद पर नियुक्त थे। एक बार दूत रूप में लार्ड वैंटिंग के पास गये। बातचीत के सिल-सिले में लार्ड वैंटिंग पूछ बैठे कि महाराज की कौन-सी आँख जाती रही है। अजीजुद्दीन ने इसके जवाब में कहा—जनाब! मेरे प्रतापी स्वामी के चेहरे पर वह तेज है कि हममें से किसी को इतना साहस न हुआ कि उनकी ओर आँख उठा सकें। उत्तर यद्यपि अतिरंजना से रहित न था, फिर भी उससे रणजीतसिंह के उस रोब का पता चलता है, जो दरबारवालों के दिलों पर छाया हुआ था।

रणजीतसिंह जन्मसिद्ध शासक थे। उनमें कोई ऐसा गुण, कोई ऐसी शक्ति, कोई ऐसा आकर्षण था, जो बड़े-बड़े हेकड़ों और अहम्मन्यों को भी उनकी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर देता था। आदमियों को परखने की उनमें जबर-दस्त योग्यता थी और उनकी सफलता का बहुत बड़ा कारण उनका यही गुण था। कौन आदमी किस काम को औरों से अच्छी तरह कर सकता है, इसका निर्णय करना आसान बात नहीं है। शाहजहाँ, जहाँगीर, औरंगजेब बड़े-बड़े बादशाह थे, पर उनके राज में आये दिन बगावतें और साजिशें होती रहती थीं, और सूबेदारों को दबाने के लिये अक्सर दिल्ली से फौजें रवाना करनी पड़ती थीं। रणजीतसिंह के राज्यकाल में ऐसी घटनाएँ क्वचित् ही होती थीं। उस [illegible] जमाने में भी उनके कर्मचारी कितनी सचाई से [illegible] थे, यह देखकर आश्चर्य होता है। महाराज भी

उस समय से अब तक इस निष्पक्षता को निभाना सिख राजाओं ने अपना सिद्धांत बना रखा है, खासकर नाभा; पटियाला, कपूरथला और भींद में, जो सिखों की सबसे बड़ी रियासतें हैं, यह उदार विचार विशेष रूप से दिखाई देता है। हाँ, इस्लामी रियासतों में स्थिति इसकी उलटी है। हैदराबाद को छोड़कर, जहाँ एक हिन्दू सज्जन मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हैं, और शायद कोई ऐसी रियासत नहीं, जहाँ इस धर्मगत उदारता से काम लिया जाता हो। हिंदुओं को कट्टर और अनुदार कहना सहज है, पर वस्तुस्थिति इसकी उलटी है। अभी हाल में ही महाराज जयपुर ने एक मुसलमान सज्जन को दीवान बनाया है। क्या यह हिंदुओं की संकीर्णता है?

उस जमाने में अकसर अदूरदर्शी नरेशों की यह रीति थी, कि शत्रु पर विजय पाने के बाद उसे मटियामेट कर देते, या ऐसा कठोर व्यवहार करते कि उसके हृदय में प्रतिहिंसा और द्वेष की आग भड़कती रहती थी। पर रणजीतसिंह की नीति इस विषय में मनुष्यता और भद्रता की नीति थी, जो यद्यपि आज की रीति-नीति के अनुसार साधारण व्यवहार है; पर उस तूफानी जमाने का ख्याल करते हुए अति असाधारण बात थी। रणजीतसिंह शत्रु पर विजय पाने के बाद उसके साथ ऐसे सौजन्य और शिष्टता का व्यवहार करते कि वह उनकी दोस्ती का दम भरने लगता। कठोरता के बदले वह उसे सौजन्य और अनुग्रह की साँकल में बाँधते थे। कई बार घेरा डालने के बाद मुलतान पर उनका कब्जा हुआ और नवाब

के सजीव उदाहरण थे, खासकर राजकर्मचारियों के चुनाव में इस राग-द्वेप को ज़रा भी दख़ल न देने देते थे। इस नीति में वह अकबर से भी बढ़े हुए थे।

सिखों को मुसलमानों से कोई लाभ न पहुँचा था, बल्कि उलटा उन्होंने सिखों का अस्तित्व मिटा देने में कोई यत्न नहीं उठा रखा था, रणजीतसिंह इस संकीर्णता से सर्वथा मुक्त थे। उनके दरबार में कई प्रमुख पदों पर मुसलमान नियुक्त थे। फकीर अजीजुद्दीन, नूरुद्दीन, इमामुद्दीन सबके-सब ऊँचे पदों पर थे। ब्राह्मण, खत्री, राजपूत, हरएक जाति से उन्होंने राज्य-प्रबन्ध में सहायता ली। जहाँ भी उन्हें गुण दिखाई दिया, उसकी कद्र की। राजा दीनानाथ, दीवान मुहकमचंद, रामपाल मिश्र, दीवान साँवलमल लाहौर दरबार के स्तम्भों में थे और बड़े-बड़े महत्व के कार्यों पर नियुक्त थे।

रणजीतसिंह की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि ने ताड़ लिया था कि अगर न्याय और क्षेम-कुशल की नीति से राज्य करना है, तो उन जातियों की सहायता के बिना काम नहीं चलेगा, जो बहुत दिनों से राज्य-कार्य में भाग लेती आई हैं। सिखों ने इस समय तक युद्धक्षेत्र के सिवा शासन-प्रबन्ध में अपनी योग्यता का परिचय नहीं दिया था। अतः सैनिक-पद अधिकतर सिखों के हाथ में थे। दीवानी और माल के पद मुसलमानों, ब्राह्मणों, खत्रियों और कायस्थों के हाथ में थे, पर फौजी चढ़ाइयों में सेनापति अवसर उपयुक्त अधिकारी ही बनाये जाते थे।

उस समय से अब तक इस निष्पक्षता को निभाना सिख राजाओं ने अपना सिद्धांत बना रखा है, खासकर नाभा; पटियाला, कपूरथला और झींद में, जो सिखों की सबसे बड़ी रियासतें हैं, यह उदार विचार विशेष रूप से दिखाई देता है। हाँ, इस्लामी रियासतों में स्थिति इसकी उलटी है। हैदराबाद को छोड़कर, जहाँ एक हिन्दू सज्जन मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हैं, और शायद कोई ऐसी रियासत नहीं, जहाँ इस धर्मगत उदारता से काम लिया जाता हो। हिंदुओं को कट्टर और अनुदार कहना सहज है, पर वस्तुस्थिति इसकी उलटी है। अभी हाल में ही महाराज जयपुर ने एक मुसलमान सज्जन को दीवान बनाया है। क्या यह हिंदुओं की संकीर्णता है ?

उस जमाने में अकसर अदूरदर्शी नरेशों को यह रीति थी, कि शत्रु पर विजय पाने के बाद उसे मटियामेट कर देते, या ऐसा कठोर व्यवहार करते कि उसके हृदय में प्रतिहिंसा और द्वेष की आग भड़कती रहती थी। पर रणजीतसिंह की नीति इस विषय में मनुष्यता और भद्रता की नीति थी, जो यद्यपि आज की रीति-नीति के अनुसार साधारण व्यवहार है; पर उस तूफानी जमाने का ख्याल करते हुए अति असाधारण बात थी। रणजीतसिंह शत्रु पर विजय पाने के बाद उसके साथ ऐसे सौजन्य और शिष्टता का व्यवहार करते कि वह उनकी दोस्ती का दम भरने लगता। कठोरता के बदले वह उसे सौजन्य और अनुग्रह की साँकल में बाँधते थे। कई बार घेरा डालने के बाद मुलतान पर उनका कब्जा हुआ और नवाब

मुजफ्फर खाँ अपने पाँच बेटों तथा तीन सौ स्वजनों के साथ किले के दरवाजे पर मारा गया, तो उन्होंने नवाब के दो बाकी लड़कों को दरबार में बुला लिया और उनके वजीफे मुकर्रर कर दिए। इसी तरह मुहम्मद यार खाँ तिवाना और दूसरे पराजित सरदारों के साथ भी उन्होंने भलमनसी का बरताव कायम रखा।

ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि शत्रु के जीतने के बाद उन्होंने उसे जिंदा दीवार में चुनवा दिया हो, खुलेआम शिरच्छेद करा दिया हो या उस पर बुग्ज का बुखार निकाला हो। अकसर उन्हीं पराजित शत्रुओं पर उनका अनुग्रह होता था, जिन्होंने मर्दानगी से उनका मुकाबला किया हो। वह स्वयं वीर पुरुष थे और वीरता का आदर करते थे। जोधसिंह वजीराबाद का एक सिख सरदार था। किसी कारण महाराज उस पर नाराज हुए और उसे दंड देना चाहा; पर इसके लिए सेना भेजी जाय, यह पसंद न करते थे। अतः उसे बहाने से दरबार में बुलाया और गिरफ्तार करना चाहा। जोधसिंह ने तुरन्त तलवार खींच ली और मरने मारने को तैयार हो गया। महाराज उसकी मर्दानगी पर इतने खुश हुए कि उसी जगह उसका प्रेमालिंगन किया और जब तक वह जिंदा रहा उसे मानते रहे।

रणजीतसिंह के पहले सिख-सेना अधिकतर सवारों की होती थी, पैदल तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते। इसके विरुद्ध यूरोप में पैदल सेना ही युद्ध का आधार थी और

है। अँग्रेजी पैदल सेना अनेक बार हिन्दुस्तानी घुड़सवारों के पैर उखाड़ चुकी थी। यह देखकर महाराज ने भी अपनी सेना को कायापलट कर दी। सवारों के बदले पैदल सेना का संगठन आरंभ किया और इस कार्य के लिए फ्रांस और इटली के कई अनुभवी जनरलों को नियुक्त किया, जिनमें से कई नेपोलियन बोनापार्ट के तिलिस्मी युद्धों में शरीक रह चुके थे। जेनरल वंचूरा उनमें सबसे अधिक कुशल था। इन सेना-नायकों के शिक्षण ने सिख पैदल सेना को यूरोप की अच्छी-से-अच्छी सेना को ललकारने लायक बना दिया था। पंजाब के चुने हुए जवान प्यादों में भरती किए जाते थे और महाराज की यह कोशिश रहती थी कि सेना का यह विभाग अधिक लोकप्रिय हो जाय। सिख पैदल सेना को परिश्रम और कष्टसहन का इतना अभ्यास था कि महीनों तक लगातार रोज २० मील की मंजिलें मार सकती थी। महाराज की संपूर्ण सेना करीब एक लाख थी और जागीरदारों की मिलाकर सवा लाख।

रणजीतसिंह के राज्य में पंजाब खास, सतलज और सिंध के बीच का प्रदेश, कश्मीर, मुलतान, डेराजान, पेशावर और सरहदी जिले शामिल थे। यद्यपि राज्य अधिक विस्तृत न था, पर उसमें हिंदुस्तान के वह हिस्से शामिल थे, जो प्राकृतिक अवस्था की दृष्टि से दुर्गम हैं और जहाँ लड़ाके, साहसी, किसी की अधीनता न जाननेवाले और धोखेबाज लोग बसते हैं। भारत के सम्राटों के लिए यह भू-भाग सदा परेशानियों और कठिनाइयों का भंडार साबित हुआ है। मुगल बादशाहों के

समय अकसर यहाँ फ़ौज भेजनी पड़ती थी और यह चढ़ाइयाँ परिणाम की दृष्टि से तो नगण्य होती थीं, पर खर्च और रक्तपात के विचार से बहुत ही महत्वपूर्ण होती थीं। यह प्रदेश जाहिल और कट्टर मुसलमान जातियों से आबाद है, जो शिक्षा और सभ्यता से बिलकुल कोरे हैं और जिनके जीवन का उद्देश्य केवल चोरी, डाका और लूट है। और यद्यपि यह भू-खंड पचास साल से अंग्रेजी राज्य की मंगलमयी छाया के नीचे है, फिर भी अज्ञान और अन्धकार के उसी गहरे गढ़े में गिरा हुआ है। यह लोग जब मौक़ा पाते हैं, सरहद के हिंदुओं और वह न मिलें, तो मुसलमानों पर ही अपनी बर्बरता चरितार्थ कर लेते है। रणजीतसिंह को इन जातियों से बहुत नुकसान उठाने पड़े। तजरबेकार अफ़सर और चुनी हुई पलटनें अकसर इन्हीं सरहदी झगड़ों की नजर हो जाया करती थीं। यों तो बारहों मास छेड़छाड़ होती रहती थी, पर लगान की वसूली का जमाना दूसरे शब्दों में युद्धकाल होता था। रणजीतसिंह को अगर दक्षिण दिशा में राज्य-विस्तार की सुविधा होती, तो संभवतः वह इन सरहदी इलाकों की ओर ध्यान न देते। पर दक्षिण में तो ब्रिटिश सरकार ने उनके बढ़ने की ओर हद बाँध दी थी और पटियाला, नाभा, झींद आदि सिख राज्यों को अपने प्रभाव में ले लिया था।

विद्या और ललित-कला की उन्नति की दृष्टि से रणजीतसिंह का शासन-काल उल्लेखनीय नहीं। उनकी जिंदगी राज्य को सुदृढ़ बनाने की कोशिश में ही समाप्त हो गई।

स्थापत्य कला की वह स्मरणीय कृतियाँ, जो अब तक मुगल राज्य को याद दिला रही हैं, उत्पन्न न हो सकीं; क्योंकि यह पौधे शान्ति के उद्यान में ही उगते और फलते-फूलते हैं।

रणजीतसिंह का वैयक्तिक जीवन सुन्दर और स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता। उन दुर्बलताओं में उन्होंने बहुत बड़ा हिस्सा पाया था, जो उस जमाने में शरीफों और रईसों के लिए बड़प्पन की सामग्री समझी जाती थीं और जिनसे यह वर्ग आज भी विमुक्त नहीं है। उनके ९ विवाहित रानियाँ थीं और ९ रखेलियाँ थीं। लौंडियों की संख्या तो सैकड़ों तक पहुँचती थी। विवाहिता रानियाँ प्रायः प्रभावशाली सिख-घरानों की बेटियाँ थीं, जिन्हें उनके बाप-भाइयों ने अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए रनिवास में पहुँचा दिया था। इसके कारण वहाँ अक्सर साजिशें होती रहती थीं।

मद्यपान उस समय सिख रईसों का सामान्य व्यसन था और महाराज तो गजब के पीनेवाले थे। उनकी शराब बहुत तेज होती थी। इस अति मद्यपान के कारण ही वे कई बार लकवे के शिकार हुए और अंतिम आक्रमण सांघातिक सिद्ध हुआ। यह हमला १८३० के जाड़े में हुआ और साल भर बाद जान लेकर ही गया। पर इस सांघातिक व्याधि से पीड़ित रहते हुए भी महाराज राज के आवश्यक कार्य करते रहे। उस सिंह का, जिसकी गर्जना से पंजाब और अफगानिस्तान काँप उठते थे, सुखपाल में सवार होकर फौज की क़वायद देखने के लिए जाना बड़ा ही हृदयविदारक दृश्य था।

हज़ारों आदमी उनके दर्शन के लिए सड़कों के दोनों ओर खड़े हो जाते और उन्हें इस दशा में देखकर करुणा और नैराश्य के आँसू बहाते थे। अत को मौत का परवाना आ पहुँचा और महाराज ने राजकुमार खड्गसिंह को बुलाकर अपना उत्तराधिकारी तथा राजा ध्यानसिंह को प्रधान मंत्री नियुक्त किया। २५ लाख रुपया गरीब मोहताजों में बाँटा गया और संध्या समय जब रनिवास में दीपक जलाए जा रहे थे, महाराज के जीवन-दीप का निर्वाण हो गया।

ध्यानसिंह को प्रधान मंत्री बनाना महाराज की अंतिम और महा अनर्थकारी भूल थी। शायद उस समय अन्य शारीरिक, मानसिक शक्तियों के सदृश उनकी विवेक शक्ति भी दुर्बल हो गई थी। महाराज की मृत्यु के बाद ६ साल तक उथल-पुथल और अराजकता का काल था। खड्गसिंह और उनका पुत्र नौनिहालसिंह दोनों कतल कर दिये गए, फिर शेरसिंह गद्दी पर बैठा। उसकी भी वही गति हुई। और सिख सिंहासन का अंतिम अधिकारी अंग्रेज सरकार का वृत्तिभोगी बन गया। इस प्रकार वह सुविशाल प्रासाद, जो रणजीतसिंह ने निर्माण किया था, दस ही वर्षों में धराशायी हो गया।

●

राणा जंगबहादुर

नेपाल के राणा जंगबहादुर उन मौक़ा-महल समझने-वाले, दूरदर्शी और बुद्धिशाली व्यक्तियों में थे, जो देशों और जातियों को पारस्परिक कलह और संघर्ष के गर्त से निकालकर उन्हें उन्नति के पथ पर लगा देते हैं। वह १९वीं सदी के आरंभ में उत्पन्न हुए। यह वह समय था, जब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सत्ता बड़ी तेजी से फैलती जा रही थी। देहली का चिराग गुल हो चुका था, मराठे ब्रिटिश शक्ति का लोहा मान चुके थे और केवल पंजाब का वह भाग; जो महाराजा रणजीतसिंह के अधिकार में था, उसके प्रभाव से बचा था। नेपाल भी अंग्रेजी तलवार का मजा चख चुका था और सुगौली की संधि के अनुसार अपने राज्य का एक भाग अंग्रेज सरकार के नजर कर चुका था। वही भाग, जो अब कुमायूँ की कमिश्नरी कहलाता है।

ऐसे नाजुक वक्त में, जब देशी राज्य कुछ तो गृहयुद्धों और कुछ अपनी कमजोरियों के शिकार होते जाते थे, नेपाल की भी वही गति होती; क्योंकि उस समय वहाँ की भीतरी अवस्था कुछ ऐसी ही थी, जैसी देहली की सैयद बंधुओं के समय में या पंजाब की रणजीतसिंह के निधन के बाद हुई थी। पर राणा जंगबहादुर ने इस नाजुक घड़ी में नेपाल के शासन-प्रबंध की बागडोर अपने हाथ में ले ली और गृह-कलह तथा प्रबंध-दोषों को मिटाकर सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। इसमें संदेह नहीं कि इस काम में वह सदा

न्याय और सत्य पर नहीं रह सके। अकसर उन्हें चालबाजियों, साजिशों, यहाँ तक कि गुप्त हत्याओं तक का सहारा लेना पड़ता था; पर संभवतः उस परिस्थिति में वही नीति उपयुक्त थी। नेपाल की अवस्था उस समय ऐसी हो गई थी, जब मानवता, सहनशीलता अथवा क्षमा दुर्बलता मानी जाती है। और जब भय और त्रास ही एकमात्र ऐसा साधन रह जाता है, जो उत्पातियों और सिरफिरों को काबू में रख सके। पंजाब के अंतिम काल में जंगबहादुर जैसा उपायकुशल और हिम्मत-वाला कोई आदमी वहाँ होता, तो शायद उसका अंत इतनी आसानी से न हो सकता। जंगबहादुर को नेपाल का बिस्मार्क कह सकते हैं।

नेपाल राज्य की नींव १६वीं शताब्दी में पड़ी। अकबर के हाथों चित्तौड़ के तबाह होने के बाद राणा-वंश के कुछ लोग शांति की तलाश में यहाँ पहुँचे और यहाँ के कमजोर राजा को अपनी जगह उनके लिए खाली कर देनी पड़ी। तब से वही घराना राज्यारूढ़ है; पर धीरे-धीरे स्थिति ने कुछ ऐसा रूप प्राप्त कर लिया कि राज्य के हर्ता-कर्ता प्रधान मंत्री या 'अमात्य' हो गए। मंत्री जो चाहते थे, करते; राजा केवल बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र रखने का साधन मात्र था। मंत्रियों के भी दो वर्ग थे—एक 'पाँडे' का, दूसरा 'थापा' का, और दोनों में सदा संघर्ष होता रहता था। जब पाँडे लोग अधिकारारूढ़ होते, तो थापा घराने को मिटाने में कोई बात उठा न रखी जाती, और इसी प्रकार जब थापा लोग अधिकारी

होते, तो पाँडे वंशवालों की जान के लाले पड़ जाते ।

जंगबहादुर यों तो राजकुल के थे, पर उनकी रिश्तेदारियाँ अधिकतर थापा घराने में थीं । जब वह उस समय की प्रचलित पढ़ाई पूरी कर चुके, तो उन्हें एक ऊँचा पद प्राप्त हुआ । उस समय थापा कुल अधिकारारूढ़ था और भीमसेन थापा अमात्य थे । महाराज ने मंत्री की बढ़ती हुई शक्ति से डरकर उन्हें एक झूठे अभियोग में क़ैद कर दिया । भीमसेन ने जेलखाने में ही आत्महत्या कर ली । उनके मरते ही उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों पर आफ़त आ गई । उनका भतीजा जेनरल मोतवरसिंह भागकर हिंदुस्तान चला आया । जंगबहादुर और उनके पिता भी पदच्युत कर दिए गए । यह बात सन् १८३७ ई० की है । उस समय जंगबहादुर २१ साल के थे । पद का चार्ज ले लिये जाने के बाद वह भागकर बनारस आये और यहाँ दो साल तक इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे । अन्त में जब कहीं आश्रय न दिखाई दिया, तो १८३९ ई० में फिर नेपाल गये । तब तक वहाँ थापा लोगों के विरुद्ध भड़की हुई क्रोधाग्नि ठंढी हो चुकी थी और जंगबहादुर को किसी ने रोक-टोक न की । यहाँ उन्हें अपना शौर्य-साहस दिखाने के कुछ ऐसे मौक़े मिले कि महाराज ने प्रसन्न होकर उन्हें बहाल कर दिया । अबकी वह युवराज सुरेन्द्रविक्रम के मुसाहब बना दिए गए । पर जंगबहादुर के लिए यह बहुत ही भयावह सिद्ध हुई ।

युवराज सुरेन्द्रविक्रम एक

विक्षिप्त नवयुवक था और उसे क्रूरता के दृश्य देखने की सनक थी। अपने मुसाहवों से ऐसे-ऐसे कामों की फ़रमाइश करता कि उनकी जान पर ही आ बीतती। जंगवहादुर को भी कई वार जानलेवा परीक्षाओं में पड़ना पड़ा, पर हर वार वह कुछ तो अपने सैनिकोचित अभ्यास और कुछ सौभाग्य की सहायता से वच गए। एक वार उन्हें ऊँचे पुल पर से नीचे तूफ़ानी पहाड़ी नदी में कूदना पड़ा। इसी प्रकार एक वार उन्हें एक ऐसे गहरे कुएँ में कूदने का हुक्म हुआ, जिसमें उन भैंसों की हड्डियाँ जमा की जाती थीं, जो विशेष पर्वोत्सवों में बलि किए जाते थे। इन दोनों कठिन परीक्षाओं में अपनी मौत से खेलने-वाली हिम्मत की बदौलत वे उत्तीर्ण हो गए। कुशल हुई कि उन्हें इस नौकरी पर केवल एक साल रहना पड़ा। १८४१ ई० में उनके पिता की मृत्यु हुई और वह महाराज राजेन्द्र-विक्रम के अंगरक्षक (बाडीगार्ड) नियुक्त हुए।

युवराज सुरेन्द्रविक्रम का क्रूरता का उन्माद दिन-दिन वढ़ता गया। दूसरों को एड़ियाँ रगड़कर मरते देखने में उसे मज़ा आता था। यहाँ तक कि कई वार उसने अपनी ही रानियों को पालकी समेत नदी में डुबवा दिया। महाराज स्वयं दुर्वलचित्त, अदूरदर्शी, नासमझ आदमी थे। राज्य का प्रवन्ध बड़ी रानी किया करती थीं और उनका दबाव कुछ-कुछ युवराज को भी मानना पड़ता था; पर अक्टूवर सन् १८४१ में इस बुद्धिमती रानी का स्वर्गवास हो गया और उसकी आँख मुँदते ही नेपाल में अराजकता का युग आरम्भ हो गया।

सुरेन्द्रविक्रम को अब किसी का डर-भय न रहा, दिल खोलकर अत्याचार-उत्पीड़न आरम्भ कर दिया। महाराज में इतनी सामर्थ्य न थी कि इसका प्रतिवन्ध कर सकें। अधिकारी और प्रजा सबकी नाक में दम हो गया। अंत में इसकी कोशिश होने लगी कि महाराज को अपने अधिकार छोड़ देने को बाध्य किया जाय और शासन की बागडोर छोटी रानी लक्ष्मी देवी के हाथ में दे दी जाय।

लक्ष्मी देवी युवराज की सौतेली माँ थीं और अपने लड़के रणविक्रम को गद्दी पर बिठाने के फेर में थीं। इसलिए राज्य-प्रबन्ध उनके हाथ में आने से यह आशा की जाती थी कि युवराज का हत्यारापन दूर हो जायगा। अतः दिसम्बर सन् १८४२ में राज्य के प्रमुख अधिकारी और प्रजा के मुखिया, जिनकी संख्या ७०० के लगभग थी, एकत्र हुए और सेना के साथ बैंड बजाते हुए महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उनसे एक फरमान-पत्र पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया, जिसके अनुसार राज-काज महारानी लक्ष्मीदेवी को सौंप दिया जाता। महाराज ने पहले तो टाल-मटोल से काम लेना चाहा और एक महीने तक वादों पर टरकाते रहे; पर अन्त में उन्हें इस फरमान को स्वीकार कर लेने के सिवा कोई दूसरा उपाय न दिखाई दिया।

रानी लक्ष्मीदेवी पाँडे लोगों से बुरा मानती थीं और थापा घराने की तरफ़दार थीं, इसलिए अधिकार पाते ही उन्होंने जेनरल मोतबरसिंह को नेपाल बुलाया, जिन्हें अंग्रेज

सरकार ने शिमले में नजरबन्द कर रखा था। वह जब नेपाल पहुँचे, तो बड़ी धूम से उनका स्वागत किया गया। अगवानी के लिए सेना भेजी गई, जिसके साथ जंगबहादुर भी थे। मोतबरसिंह मंत्री बनाए गये और पाँडे मंत्री को जान के डर से हिंदुस्तान भागना पड़ा। इस परिवर्तन में रानी लक्ष्मीदेवी का उद्देश्य यह था कि मोतबरसिंह को अपने लड़के रणविक्रम का समर्थक बना ले और युवराज सुरेंद्रविक्रम को धता बताए। पर मोतबरसिंह इतना दुर्बलचित्त और सिद्धांत-रहित व्यक्ति न था कि मंत्रित्व या एहसान के बदले में न्याय की हत्या करने को तैयार हो जाय। बड़े बेटे के रहते छोटे राजकुमार का युवराज-पद पाना कुल-परम्परा के प्रतिकूल था और यद्यपि वह महारानी को साफ जवाब न दे सके; पर इसका यत्न करने लगे कि सुरेंद्रविक्रम के स्वभाव में ऐसा सुधार हो जाय, जिससे महाराज को शासन-सूत्र उनके हाथ में देने में आगा पीछा करने की कोई गुंजाइश न रहे। पर खुद महाराज का खयाल उनकी ओर से अच्छा नहीं था। धीरे-धीरे महारानी को भी मालूम हो गया कि मोतबरसिंह से कोई आशा रखना बेकार है। अतः वह भी भीतर-भीतर उनके खून की प्यासी बन बैठी।

बेचारे मोतबरसिंह अब कठिन समस्या में फँसे हुए थे। राजा भी दुश्मन, रानी भी दुश्मन। पर वह अपनी धुन के पक्के थे। एक ओर युवराज के शिक्षण और सुधार और दूसरी ओर महाराज को सब अधिकार दे देने को तैयार करने के यत्न में लगन के साथ लगे रहे; पर दोनों ही कठिन

कार्य थे । क्रूरता जिस मनुष्य का स्वभाव बन गया हो, उसका सुधार दुस्साध्य है और महाराज जैसे अस्थिरचित्त, अदूरदर्शी और अधिकार-लोलुप व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन भी अनहोनी बात है; पर अंत में उनके दोनों यत्न सफल हुए और १३ दिसम्बर, सन् १८४४ को महाराज ने अपने सब अधिकार युवराज को सौंप दिये। और मोतबरसिंह ने यह घोषणा पढ़कर प्रजा को सुनायी ।

धीरे-धीरे मोतबरसिंह का अधिकार और प्रभाव इतना बढ़ा कि राज्य के और सरदार घबड़ाने लगे । स्वेच्छाचारिता का अधिकार के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है। वह यहाँ भी प्रकट हुई। मोतबरसिंह अपने सामने किसी की भी नहीं सुनते थे। जंगबहादुर उनके सगे भानजे थे, इसलिए कभी-कभी दरबार में भी उनके विरोध की हिम्मत कर बैठते थे। नतीजा यह हुआ कि मामा-भानजे में तनातनी हो गई । एक बार किसी मामले में जंगबहादुर के चचेरे भाई देवीबहादुर ने मोतबरसिंह का कसकर विरोध किया और क्रोध के आवेश में महारानी के आचरण पर भी आक्षेप कर बैठे । यह असाधारण अपराध था, इसलिए देवीबहादुर को फाँसी की सजा मिली । जंगबहादुर ने अपने भाई के प्राण-दान मिलने की सिफारिश के लिए मोतबरसिंह से बड़ी अनुनय-विनय की, पर उन्होंने महारानी की आज्ञा में दखल देना मुनासिब न समझा । देवीबहादुर की गरदन उतार दी गई ।

रानी लक्ष्मीदेवी के आचरण पर देवीबहादुर ने जो

आक्षेप किया था, वह एक प्रकट रहस्य था। जनाने दरबार की विशेषताओं से उनका भी दरबार रहित न था। रनिवास क्या था, परिस्तान था। सब बूढ़ी लौंडियाँ निकाल दी गईं और उनकी जगह सुंदरी युवती स्त्रियाँ रखी गई थीं, उनमें से अनेक महरानी की मुँहलगी थीं और राजकाज में वह अकसर उन्हीं की सलाह पर चलती थीं। इसलिए दरबार में इन लौंडियों का बड़ा प्रभाव था, और राज्य के छोटे-बड़े सरदार न्याय-अन्याय की ओर से आँखें मूंदकर इन परियों में से किसी एक को शीशे में उतारना कर्त्तव्य समझते थे। इससे उनके बड़े-बड़े काम निकलते थे।

गगनसिंह नामक सरदार पर महारानी की विशेष कृपा-दृष्टि थी। यह बात सबको विदित थी, पर किसी में इतनी हिम्मत न थी कि एक शब्द मुँह से निकाल सके। रानी साहिबा अधिकतर मामलों में गगनसिंह से ही सलाह लेती थीं। उनका उद्देश्य यह था कि उसे मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित करें। मोतवर-सिंह की ओर से उनका खयाल पहले ही खराब हो गया था, उस पर से गगनसिंह ने भी मोतवरसिंह के विरुद्ध उनके कान खूब भरे। यहाँ तक कि वह उनके जान की भूखी हो गई। जंगवहादुर को गगनसिंह ने मिला लिया और अन्त में उन्हीं के हाथों रनिवास में मोतवरसिंह क़तल किए गए। जंगवहादुर के नाम से इस काले धव्वे को छुड़ाना असंभव है। इस लज्जा-जनक और कायरता-भरे कर्म में स्वार्थ के सिवा और कोई उद्देश्य नहीं था। क्रोध, प्रतिहिंसा या राज्य का हित—यही

कारण हैं, जिनसे ऐसी हत्याओं का औचित्य दिखाया जा सकता है, पर यहाँ इनमें से एक भी विद्यमान न था। इसको अंग्रेजी मुहावरे में ठंढे खून का क़तल कहना चाहिए। पद और अधिकार के लोभ में उन्हें अपने सगे मामा की हत्या में भी आगा-पीछा न हुआ।

मोतबरसिंह की हत्या से देश में हलचल मच गई, पर हत्या करनेवाले का पता न चल सका। इधर महारानी का उद्देश्य भी सिद्ध न हुआ। मंत्रिपद के दावेदार अकेले गगनसिंह ही नहीं, और भी थे। जंगबहादुर इस समय एक सम्मानित सैनिक पद पर आसीन थे। तीन रेजिमेंट खास उन्हीं की भरती की हुई थीं, जो उनके सिवा और किसी का हुक्म मानना जानती ही न थीं। उनके कई भाइयों को भी सेना में ऊँचे पद मिल गए थे। अतः दरबार में उनका खासा प्रभाव स्थापित हो गया था। इस पर मोतबरसिंह के वध का पुरस्कार उनकी दृष्टि से मंत्रित्व के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था। फल यह हुआ कि गगनसिंह को सेना के एक पद पर ही संतोष करना पड़ा और मंत्रिपद पाँडे-वंश के सरदार फतहजंग को दिया गया; पर यह स्थिति अधिक दिन न रह सकी। गगनसिंह महाराज की आँखों में काँटे की तरह खटकता था। वह किसी तरह उसे जहन्नुम भेजना चाहते थे; पर रानी के डर से लाचार थे। आखिर यह जलन न सही गई और इशारे से एक साजिश हुई, जिसमें गगनसिंह को खत्म

का निश्चय हुआ। और एक दिन वह अपने मकान पर ही गोली का निशाना बना दिया गया।

गगनसिंह का मारा जाना था कि दरबार में मानो प्रलय उपस्थित हो गया। लक्ष्मीदेवी इस कांड की सूचना पाते ही रनिवास से बफरी हुई शेरनी की तरह हाथ में नंगी तलवार लिये हुए निकलीं और सीधे गगनसिंह के मकान पर चली गईं! प्रतिहिंसा की आग उनके हृदय में भड़क उठी। रात को फ़ौजी बिगुल बजा। रानी का उद्देश्य यह था कि सब सरदारों को जमा करके उनमें हत्या करनेवाले को ढूँढ़ निकालें! जंगबहादुर ने बिगुल सुनते ही दुर्घटना की आशंका पर अपनी सेना को तैयार होने का हुक्म दिया, और इसीलिए सबसे पहले राजमहल में पहुँच गए। उनकी सेना ने रनिवास को घेर लिया। रानी साहिबा घबरायीं, पर जंगबहादुर ने उन्हें *आश्वासन* दिया। धीरे-धीरे और सरदार भी जमा हुए और सारा आँगन उन लोगों से भर गया।

रानी ने एक सरदार को हत्या का अपराधी बताकर उस के वध की आज्ञा दी। इस पर सरदारों में कानाफूसी होने लगी। एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखता था। दूसरे सेनानायकों ने भी अपनी सेनाओं को महल के करीब बुलाना चाहा। आपस में कठोर शब्दों का प्रयोग होने लगा। जंगबहादुर के एक पहरेदार ने एक सेनानायक को, जो अपनी सेना से मिलने के लिए जाना चाहता था, क़तल कर दिया। फिर क्या था, मच गई। कितने ही सरदार उसी आँगन में तलवार

के घाट उतार दिए गए। प्रधान मंत्री भी न बच सके। अंत में जंगबहादुर की सेना ने शांति स्थापित की और सरदार लोग अपने-अपने स्थान को वापस गये। इस गृहयुद्ध ने जगबहादुर के लिए मैदान साफ कर दिया। उनके प्रतिस्पर्द्धियों में से कोई बाक़ी न रहा। १५ सितम्बर, सन् १८४१ को यह कांड हुआ। दूसरे दिन महारानी ने उन्हें बुलाकर प्रधान मंत्रित्व का अधिकार सौंप दिया। इस प्रकार निविड़ अन्धकार के बाद उनके भाग्य-भास्कर का उदय हुआ।

पर इस कठिन काल में यह पद जितना ही ऊँचा था, उतना ही भयावह भी। महाराज को जंगबहादुर का प्रधान मंत्री होना पसन्द न था। उनका संदेह था कि इस मारकाट का कारण वही हैं। रानी भी अपने मतलब में थीं। वह जंगबहादुर की सहायता से अपने लड़के को गद्दी पर बिठाना चाहती थीं। इधर गगनसिंह के समर्थक-शुभचिंतक भी उनके जान के ग्राहक हो रहे थे। जंगबहादुर ने कई महीने तक रानी की आज्ञाओं का बेउज्र पालन किया। यहाँ तक कि युवराज और उनके भाई को जेल में डाल दिया। यद्यपि इसमें उनका उद्देश्य यह था कि दोनों भाई रानी के कुचक्रों से सुरक्षित रहें।

रानी युवराज की हत्या करना चाहती थीं, क्योंकि इसके बिना उनके अपने बेटे के लिए कोई आशा न थी। उन्होंने जंगबहादुर से इशारे में इसकी चर्चा भी की, पर जंगबहादुर बराबर अनजान बने रहे। इशारों से काम न चलते देख, रानी ने उनके पास इस आशय का पत्र लिखा। जंगबहादुर ने उसे

अपने पास रख लिया और रानी को मुँहतोड़ जवाब लिख भेजा, जिसे पाकर रानी उनसे निराश ही नहीं हो गई, उनकी जान की भी दुश्मन हो गईं, और उनकी हत्या का षड्यंत्र रचने लगीं। गगनसिंह का लड़का वजीरसिंह इस काम में उनका दाहिना हाथ था। साजिश पूरी हो गई। उनका हर एक सदस्य अपना-अपना काम पूरा करने को तैयार हो गया। आपस में कौल-करार भी हो गए। कसर इतनी ही थी कि जंगबहादुर रानी साहिबा के महल में बुलाए जायँ। पर ऐन मौके पर जंगबहादुर की ताड़नेवाली निगाह ने सारी योजना भाँप ली और भंडाफोड़ हो गया। उन्होंने तुरन्त सेना बुलायी और उसे लिये रानी लक्ष्मीदेवी के महल पर जा धमके।

घातक अपनी घात में बैठे हुए थे, पर जंगबहादुर ने पहुँचकर उन्हें घेर लिया। उन्हें जान बचाने का मौका न मिला। कितने ही वहीं तलवार के घाट उतार दिए गए। रानी साहिबा रक्त-सने हाथों सहित पकड़ ली गईं। उन पर युवराज और प्रधान मन्त्री की हत्या की साजिश का अभियोग लगाया गया। प्रमाण प्रस्तुत ही थे, रानी को बचने का मौका न मिला। मन्त्रिमंडल के सामने यह मामला पेश हुआ और रानी को सदा के लिये नेपाल से निर्वासन का दंड दिया गया। उनके दोनों बेटों ने उनके साथ रहने में ही जान की खैरियत समझी। जंगबहादुर ने इसमें रुकावट न की, बल्कि बड़ी उदारता के साथ रानी साहिबा के खर्च के लिए खजाने से १८ लाख रुपया देकर उन्हें बिदा किया गया।

इस घटना से यह प्रकट होता है कि जंगवहादुर कैसे जीवट और कलेजे के राजनीतिज्ञ थे और स्थिति को किस प्रकार अपने अनुकूल बना लेते थे। महारानी लक्ष्मीदेवी की शक्ति और प्रभाव को दम भर में मिटा देना कोई आसान काम न था। जिस रानी के भय से सारा नेपाल थर-थर काँपता था, उसकी शक्ति को उनकी नीति-कुशलता ने देखते-देखते धूल में मिला दिया।

महाराज वहुत दिनों से काशी-यात्रा की तैयारी कर रहे थे। रानी का देश-निकाला हुआ, तो वह भी उनके साथ जाने को तैयार हो गए। जंगबहादुर ने बहुत समझाया कि इस समय रानी साहिबा के साथ आपका जाना उचित नहीं। आपका बुरा चाहनेवाले लोग कुछ और ही मानी निकाल सकते हैं, पर महाराज ने हठ पकड़ लिया। युवराज सुरेन्द्र-विक्रम उनके उत्तराधिकारी स्वीकार किए गए। जंगबहादुर ने यह चतुराई की कि अपने कुछ विश्वासी आदमियों को महाराज के साथ कर दिया, जिससे वह उनकी चेष्टाओं की सूचना देते रहें। महाराज जैसे अव्यवस्थित और अधिकार-लोलुप थे, उससे उन्हें डर था कि कहीं वह दुष्टों के बहकाने में न आ जायँ। और उनकी आशंका ठीक निकली।

काशी में नेपाल के कितने ही खुराफाती निर्वासित सरदार रहते थे। उन्होंने महाराज को उकसाना आरम्भ किया कि नेपाल पर चढ़ाई करके जंगवहादुर के शासन का अन्त कर दें। महाराज पहले तो इस जाल में न फँसे, पर दिन-

रात के संग-साथ और उकसाने-भड़काने ने अन्त में अपना असर दिखाया। महाराज को विश्वास हो गया कि जंगबहादुर सचमुच युवराज के नाम पर नेपाल पर खुद राज्य कर रहा है। वह जब नेपाल की ओर लौटे तो दुष्टों का एक दल, जिसमें २०० से कम आदमी न थे, उनके साथ चला। नेपाल की सरहद पर पहुँचकर महाराज सोचने लगे कि अब क्या करना उचित है। महारानी से पत्रव्यवहार हो रहा था और हमले की तैयारी जारी थी। बागियों में मन्त्री, सेनानायक, कोपाध्यक्ष सब नियुक्त हो गए। व्यवस्थित रूप से सेना की भरती होने लगी। जंगबहादुर के खास आदमियों ने महाराज को बहुत समझाया कि आप इस कार्रवाई से बाज रहें, पर वह धुन में कब किसी की सुनते थे। मुंह पर तो यही कहते थे कि यह सब अफ़वाहें गलत हैं, पर भीतर-भीतर पूरी तैयारी कर रहे थे।

उधर वहाँ की हरएक बात की सूचना प्रतिदिन जंगबहादुर को मिलती रही। उनको डर लगा कि कहीं इस उपद्रव की आग सारे नेपाल में न फैल जाय और उसका उपाय कर देना आवश्यक समझा। उन्होंने सारी सेना और सरदारों को तलब किया और महाराज की छिपी तैयारियों का पूरा हाल सुनाकर उन्हें राज्यच्युत कर देने का प्रस्ताव उपस्थित किया। सेना ने उनको अपना अफसर मानने और उनकी आज्ञा पर मरने-मारने को तैयार रहने की शपथ ली। महाराज के पास पत्र भेजा गया, जिसमें उन पर राज्य से

बाग़ी होकर उस पर चढ़ाई करने का अभियोग लगाया गया था, और उनकी जगह युवराज के सिंहासनासीन होने की सूचना दी गई थी। महाराज पत्र पाते ही आग हो गए, सलाहकारों ने उसमें और घी उँडेल दिया। दो हज़ार जवान भरती हो चुके थे। उन्हें काठमाण्डू पर धावा करने का हुक्म दिया गया। जंगबहादुर ने कुछ रेजीमेंटें मुक़ावले के लिए भेजीं। बाग़ी भगा दिये गये। महाराज नजरबन्द कर लिये गए और उन पर कड़ी निगरानी रखने का प्रबन्ध कर दिया गया। मंत्रिपद पाने के दूसरे साल में जंगबहादुर इतने लोकप्रिय हो गए और प्रजा को उन पर इतना भरोसा हो गया, कि स्वयं महाराज को भी उनके मुकाबले में हार खानी पड़ी।

इस संघर्ष से छुटकारा पाने के बाद जंगबहादुर ने सेना और शासन-प्रबन्ध के सुधारों की ओर ध्यान दिया और प्रजा की कितनी ही पुरानी शिकायतें दूर कीं। आरम्भिक जीवन में उन्हें सरकारी कर्मचारियों से भुगतना पड़ा था और साधारण कष्टों का उन्हें निजी अनुभव था। तीन-चार वर्ष के प्रधान मंत्रित्व में ही वह इतने लोकप्रिय हो गए कि लोग राजा को भूल गए और उन्हीं को अपना सब कुछ समझने लगे। खासकर सैनिक तो उन पर जान देते थे। इस बीच उनसे पुरानी जलन रखनेवाले कुछ आदमियों ने उन्हें क़तल करने की साजिश की, पर हर बार वे किसी-न-किसी प्रकार पहले से सावधान हो जाते थे। महाराज सुरेन्द्रविक्रम ने राज्य-

प्रबन्ध के सब अधिकार उन्हीं के हाथ में रखे थे, और खुद उसमें बहुत कम दखल देते थे। वही विक्षिप्त मस्तिष्क युवराज अब बहुत ही बुद्धिमान और न्यायशील राजा हो गया था।

जंगबहादुर अंग्रेजों के साहस, अवसर पहचानने की योग्यता और प्रबंध-कुशलता के बड़े प्रशंसक थे और उस देश को देखने की इच्छा रखते थे, जहाँ ऐसी जाति उत्पन्न हो सकती है। अतः मार्च १८५० ई० में वह अपने कई सम्बन्धियों और विश्वासपात्र सरदारों के साथ विलायत को रवाना हुए और इँग्लैंड, फ्रांस में घूमते हुए १८५१ ई० में वापस आये। इँग्लैंड में उनकी खूब आवभगत हुई और उन्हें अंग्रेज समाज को देखने समझने का भरपूर अवसर मिला। इसमें संदेह नहीं कि वह वहाँ से प्रगतिशीलता, दृष्टि की व्यापकता और सुप्रबंध की बहुमूल्य शिक्षाएँ लेकर लौटे। उसी समय से अंग्रेज जाति के साथ नेपाल की मित्रता हुई और वह आज तक बनी है।

उनके विलायत से लौटने के थोड़े ही दिन बाद नेपाल को तिब्बत से लड़ना पड़ा और उनकी मुस्तैदी तथा प्रबंध-कुशलता से उसकी जीत पर जीत होती रही। अंत में १८५५ में तिब्बत ने विवश होकर नेपाल से सुलह कर ली। इस संधि से नेपाल को व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं। महाराज ने ऐसे नीति-कुशल कार्यक्षम मंत्री के साथ और गाढ़ा सम्बन्ध जोड़ने के विचार से अपनी लड़की जंगबहादुर के लड़के के साथ व्याह दी।

लगातार कई साल अविराम श्रम करते रहने के कारण जंगबहादुर का स्वास्थ्य कुछ बिगड़ रहा था। इसलिए १८५६

ई० में उन्होंने प्रधान मंत्रित्व से इस्तीफा दे दिया; पर नेपाल उन्हें इतनी आसानी से छोड़ न सकता था। देश के प्रभावशाली लोग इकट्ठा होकर उनके पास पहुँचे और इस्तीफा वापस लेने का अनुरोध किया। यहाँ तक कि उन्हें महाराज के बदले गद्दी पर बिठाने को भी तैयार हो गए। पर जंग-बहादुर ने कहा कि जिस व्यक्ति को मैंने अपने ही हाथों राज-सिंहासन पर बैठाया, उससे लड़ने को किसी तरह तैयार नही हो सकता। महाराज ने जब उनके इस त्याग की बात सुनी, तो प्रसन्न होकर दो समृद्ध जिले उन्हें सौंप दिये और महाराज की उपाधि भी प्रदान की। जंगबहादुर इन जिलों के स्वाधीन नरेश बना दिए गए और प्रधान मंत्री का पद भी वंशगत बना दिया गया। इस अनुग्रह-अनुरोध से विवश होकर जंगबहादुर आरोग्य-लाभ होते ही प्रधान मंत्री की कुरसी पर जा बिराजे।

इसी समय हिंदुस्तान में विप्लव की आग भड़क उठी। बागियों का बल बढ़ते देख, तत्कालीन वाइसराय लार्ड केनिंग ने जंगबहादुर से मदद माँगी। उन्होंने तुरन्त ही रेजीमेंटें रवाना कर दीं और थोड़े समय बाद स्वयं बड़ी सेना लेकर आये। गोरखपुर, आजमगढ़, बस्ती, गोंडा आदि में बागियों के बड़े-बड़े दलों को छिन्न-भिन्न करते हुए लखनऊ पहुँचे और वहाँ से बागियों को निकालने में बड़ी मुस्तैदी से अंग्रेज अफसरों की सहायता की। उनकी धाक ऐसी बैठी कि बागी उनका नाम सुनकर थर्रा जाते थे। इस प्रकार विप्लव का दमन करके वह नेपाल वापस गये। पर जब बागियों का एक दल आश्रय

लिए नेपाल पहुँचा; तो जंगवहादुर ने उनके निर्वाह के लिये काफी जमीन दे दी। उनकी संतान आज भी तराई में आबाद है।

जंगवहादुर ने सन् १८७६ ई० तक राजकाज सम्हाला और देश में अनेक सुधार किये। जमीन का बन्दोवस्त और उत्तराधिकार-विधान का संशोधन उन्हीं की वुद्धिमानी और प्रगतिशीलता के सुफल हैं। उन्हीं के सुप्रवंध की वदौलत फूट-फसाद दूर होकर देश सुखी-सम्पन्न वना। जहाँ हाकिम की मरजी ही कानून थी, वहाँ उन्होंने राज्य के हर विभाग को नियम और व्यवस्था से बाँध दिया।

जंगवहादुर स्थिर चित्त और नियम-निष्ठ राजनीतिज्ञ थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रधान मंत्रित्व प्राप्त करने के पहले उन्होंने सदा सत्य और न्याय को अपनी नीति नहीं वनाया, फिर भी उनका मंत्रित्व-काल नेपाल के इतिहास का उज्ज्वल अंश है। वह राजपूत थे और राजपूती धर्म को निभाने में गर्व करते थे। सिख राज्य के ह्रास के वाद महारानी चंद्रकुंवर चुनार के किले में नजरबंद की गई। पर वह इस कारावास को सहन न कर सकीं और लौंडी के भेस में किले से निकलकर लंबी यात्रा के कष्ट झेलते हुये किसी प्रकार नेपाल पहुँचीं तथा जंगवहादुर को अपने इस विपद्ग्रस्त दशा में पहुँचने की सूचना भेजी। जंगबहादुर ने प्रसन्नचित्त से उनका स्वागत किया। २५ हजार रुपया उनके लिए महल बनाने के लिए दिया और ढाई हजार रुपया माहवार गुजारा बाँध दिया।

ब्रिटिश रेजीमेंट ने उन्हें अंग्रेज सरकार की नाराजगी का भय दिखलाया, पर उन्होंने साफ जवाब दिया कि मैं राजपूत हूँ, और शरणागत की रक्षा करना अपना धर्म समझता हूँ। हाँ, उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि रानी चंद्रकुंवर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध कोई कार्रवाई न करने पाएँगी। रानी चंद्र का महल वहाँ अभी तक क़ायम है।

जंगबहादुर को शिकार का बहुत शौक था और इसी शिकार की बदौलत एक बार मरने से बचे। उनका निशाना कभी चूकता ही न था। रण-विद्या के पूरे पंडित थे। सिपाहियों की बहादुरी की कद्र करते थे और इसीलिए नेपाल की सारी सेना उन पर जान देती थी।

जंगबहादुर यद्यपि उस युग में उत्पन्न हुए, जब हिंदू जाति निरर्थक रूढ़ियों की बेड़ी में जकड़ी हुई थी; पर वह स्वतन्त्र तथा प्रगतिशील विचार के व्यक्ति थे। नेपाल में एक नीच जाति के लोग बसते हैं, जिन्हें कोची मोची कहते हैं। ऊँची जातिवाले उनसे बहुत दुराव-बिलगाव रखते हैं। वे कुओं से पानी नहीं भरने पाते। उनके मुखियों ने जब जंगबहादुर से फरियाद की, तो उन्होंने एक बड़ी सभा की, जिसमें उक्त जाति के लोगों को भी बुलाया और भरी सभा में उनके हाथ का जल पीकर उन्हें सदा के लिए शुद्ध तथा सामाजिक दासत्व और अपमान से मुक्त कर दिया।

भारत के बुद्धिभक्तों में कितने ऐसे हैं, जो आधी शताब्दी के बीत जाने पर भी किसी अछूत के हाथ से जल ग्रहण करने

का साहस कर सकें ? फिर भी जंगबहादुर उस 'पश्चिमी प्रकाश' से वंचित थे, जिस पर हम शिक्षित हिंदुओं को इतना गर्व है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह खान-पान में भी ऐसे ही स्वाधीन थे। इंग्लैंड के प्रवासकाल में वह किसी दावत में खाने के लिए शरीक नहीं हुए। वह आवश्यक और अनावश्यक सुधार में भेद करना जानते थे। निडर ऐसे थे कि न्याय के प्रश्न पर स्वयं महाराज का भी विरोध करने में नहीं चूकते थे। प्रजा को राजकर्मचारियों के उत्पीड़न से बचाने का यत्न करते थे, और किसी कर्मचारी को पकड़ पाते, तो कड़ी सज़ा देते थे।

सारांश, उस जमाने में राणा जंगबहादुर की दम गनीमत थी। ऐसे राजनीतिज्ञ हिंदुस्तान की दूसरी रियासतों में होते तो संभव है, उनमें से कुछ आज भी जीवित होतीं। पंजाब, सतारा, नागपुर, अवध, बरमा आदि इसी काल में अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हुए। संभव है कि अंग्रेज सरकार कुछ अधिक सहनशीलता दिखाती, तो कदाचित् उनका अस्तित्व बना रहता, पर खुद उन राज्यों में से ऐसे नीतिज्ञ या शासक न थे, जो उन्हें इस भयानक भँवर से सही-सलामत निकाल ले जाते।

यद्यपि सारा नेपाल जंगबहादुर पर जान देता था और उनके बल-प्रभाव के सामने महाराज भी दब गए थे, फिर भी राज्य के सरदारों के बहुत आग्रह करने पर भी, राजा के करने के कामों को उन्होंने सदा अपने मन में से दूर रखा। उस

काल में भारत के दूसरे राज्यों के कर्णधारों में जैसा संघर्ष और खींचातानी चल रही थी, उसे देखते हुए इस देश के लिए जंगवहादुर का आत्मत्याग इसे कह सकते हैं।

१८७६ ई० फरवरी महीने में जंगवहादुर शिकार खेलने गये थे। वहीं ज्वर-ग्रस्त हुए और साधारण-सी बीमारी के बाद २५ फरवरी को इस नश्वर संसार से बिदा हो गए।

●

अकबर महान्

नाम को अल्लाह अकबर क्या तेरे तौक़ीर है।
दाख़िले हर बाँग है, शामिल वहर तकबीर है ॥*

बाबर की महत्वाकांक्षा ने चारों ओर से निराश होकर पठानों के आपस के लड़ाई-झगड़े की बदौलत हिंदुस्तान में पाँव रखने की जगह पायी थी। जनश्रुति के अनुसार पुत्र-प्रेम के आवेश में अपनी जान बेटे के आरोग्य-लाभ पर न्योछावर कर दी और उसका लाड़ला बेटा राजश्री को अंक में भरने भी न पाया था कि पठानों की बिखरी हुई शक्ति शेरख़ाँ सूर की महत्वाकांक्षा के रूप में प्रकट हुई।

हुमायूँ की अवस्था उस समय विचित्र थी। राज्य को देखो तो बस, इने-गिने दो-चार शहर थे, और शासन भी नाम का ही था। यद्यपि वह स्वयं उच्च मानव-गुणों से विभूषित था, पर उसमें ठीक राय कायम करने की योग्यता और निश्चय-शक्ति का अभाव था, जो सम्पूर्ण राज्यकार्य के लिए आवश्यक है। घर की हालत देखो, तो उसी गृहकलह का राज था, जिसके कारण पठानों की शक्ति उसके बाप के वीरत्व और नीति-कौशल के सामने न टिक सकी। भाई-भाई की आँख का काँटा बन रहा था। मंत्री और अधिकारी यद्यपि अनुभवी और वीर पुरुष थे, पर इस गृहकलह के कारण वह भी डावाँ-

*अल्लाह अकबर! तेरे नाम की क्या महिमा है कि हर अज़ाँ में दाखिल और हर तकबीर में शामिल है।

डोल हो रहे थे। कभी एक भाई का साथ देने में अपना लाभ देखते थे, कभी दूसरे की ओर हो जाते थे। सार यह है कि बिगाड़ और विनाश की सारी सामग्री एकत्र थी। ऐसी अवस्था में वह शेरखाँ की मचलती महत्वाकांक्षा, प्रौढ़ नीतिकौशल और दृढ़ संकल्प के सामने टिकता तो क्योंकर। नतीजा वही हुआ, जो पहले से दिखाई दे रहा था। शेरखाँ का बल-प्रताप बढ़ा, हुमायूँ का घटा। अंत को उसे राज्य से हाथ धोकर जान लेकर भागने में ही कुशल दिखाई दी।

वह समय भी कुछ विलक्षण, विपद और असहायता का था। हुमायूँ कभी घबराकर बीकानेर और जैसलमेर की मरुभूमि में टकराता फिरता था, कभी क्षीण-सी आशा पर जोधपुर के पथरीले मैदानों की ओर बढ़ता था; पर विश्वास-घात दूर से ही अपना डरावना चेहरा दिखाकर पाँव उखाड़ देता था। दुर्भाग्य की घटा सब ओर छायी हुई है। खून सफेद हो गया है। भाई-भाई को खाने को दौड़ता है। नाम के मित्र बहुत हैं, पर सहायता का समय आया और अनजान बने। आशा की झलक भी कभी-कभी दिखाई दे जाती है, पर तुरन्त ही नैराश्य के अन्धकार में लुप्त हो जाती है।

हद हो गई कि जब रास्ते में हुमायूँ का घोड़ा चल बसा, तो वज्रहृदय तरदी बेग ने, जो उसके बाप का मित्र और खुद उसका मन्त्री था, इस विपदा से मारे बादशाह को अपने अस्तबल से एक घोड़ा देने में भी इनकार कर दिया, जिससे उसको ऊँट की ऊबड़-खाबड़ सवारी नसीब हुई।

स्पष्ट है कि एक तुर्क के लिए, जो मानो माँ के पेट से निकल कर घोड़े की पीठ पर ही आँख खोलता है, इससे बढ़कर क्या विपत्ति हो सकती है ! गनीमत हुई कि उसके एक दोस्त नदीमखाँ को, जो बेचारा अपनी बूढ़ी माँ को अपने घोड़े पर सवार करके खुद पैदल जा रहा था, दया आ गई और उसने अपना घोड़ा हुमायूँ की नजर करके उसके ऊँट पर अपनी माँ को बिठा दिया । ग़ज़ब यह है कि हालत तो ऐसी हो रही है कि रोंगटा-रोंगटा दुश्मन मालूम होता है, धरती-आकाश फाड़ खाने को दौड़ता है, पर इस परदेश और विपदाकाल में हुमायूँ की चहेती बीवी हमीदा बानू बेगम भी साथ है । वह भी इस हाल में कि पूरे दिन हैं और हर कदम पर डर है कि कहीं प्रसव-पीड़ा का सामना न करना पड़े ।

खैर, खुदा-खुदा करके किसी तरह यह असहाय काफिला सिंध के सपाट जंगलों को पार करता हुआ अमरकोट पहुँचा और वहाँ पाँव रखने को जगह भी मिली; पर भेड़िया बने हुए भाई सब ओर से ताक में लगे हुए थे । इस कारण उसे पत्नी को वहीं छोड़, उनके मुकाबिले के लिए रवाना होना पड़ा । इस समय बेचारी हमीदा बानू की जो दशा होगी, ईश्वर दुश्मन को भी उसमें न डाले । न तन पर कपड़ा, न पेट के लिए खाना, न कोई मित्र, न सहायक; यहाँ तक कि पति भी जान के सौदे में लगा हुआ, उस पर पराया देश और पराये लोग । पर जिस तरह गहरे सूखे के समय सब ओर से काली घटाएँ उठकर क्षण भर में तृण से रहित धरती को

शस्य-श्यामल बना देती हैं, या अचानक घनघोर अंधकार में दल-बादल फटकर भूमंडल को प्रभाकर की तरह प्रखर किरणों से आलोकित कर देता है या जिस तरह—

सितारा सुबहे इशरत का शबे मातम निकलता है। *

उसी तरह तारीख ५ रजब सन् ९४४ हिज्री (१४ अक्टूबर १५४२ ई०) रविवार की रात्रि में उस मंगल नक्षत्र का उदय हुआ, जो अंत में दुनिया का सूरज बनकर चमका।

अकबर जैसे दुर्दिन में जन्मा था, वैसी ही असहाय अवस्था में उसका बचपन भी बीता। अभी पूरा एक बरस भी न होने पाया था कि मिरज़ा असकरी के विश्वासघात के भय से माँ-बाप का साथ छूटा और निर्दय चचा के हाथ पड़ा। पर भगवान् भला करें उसकी बीवी सुलतान बेगम और अकबर की दाइयों माहम बेगम और जीजी अतूका का, कि बच्चे को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाया। जब अकबर दो साल से कुछ ऊपर हुआ, तो हुमायूँ ने फिर काबुल को विजय किया, और उसे पिता के दर्शन नसीब हुए। पर अभी पाँच बरस का न हुआ था कि फिर ज़ालिम क़ामरान के हाथ पड़ गया और जब हुमायूँ काबुल के किले पर घेरा डालने में लगा हुआ था, एक मोरचे पर जहाँ ज़ोर-शोर से गोले बरस रहे थे, इस नन्हीं-सी जान को बिठा दिया गया कि काल का ग्रास बन जाए। पर धन्य है माहम के स्नेह और कर्त्तव्यनिष्ठा को कि उसको अपनी देह से छिपाकर मोरचे की ओर पीठ करके बैठ गई।

*दुःख-निशा के अवसान पर सुख-सूर्य का उदय होता है।

स्पष्ट है कि ऐसी विपत्ति और परेशानी की हालत में पढ़ाई-लिखाई तो क्या, किसी भी बात का प्रवन्ध नहीं हो सकता, और इसी लिए अकबर पिता की शिक्षाप्रद छाया से पृथक् होकर साक्षरता से भी वञ्चित रह गया। पर जिस प्रकार असहायता की गोद में उसका पालन-पोषण हुआ, उसी प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा भी विपद के महाविद्यालय में हुई। और यह उसी का फल है कि आरम्भ में ही उसमें वह उच्च मानवगुण उत्पन्न हो गए, जो जीवन-संघर्ष में विजयलाभ के लिए अनिवार्य आवश्यक हैं। बारह बरस आठ महीने की उम्र में वह सरहिंद की लड़ाई में शरीक हुआ, और अभी पूरे १४ साल का न होने पाया था कि हुमायूं के अचानक परलोक सिधार जाने से उसको अनाथत्व का पद और राज्य का छत्र मिला। तारीख २ रबी उस्मानी सन् ९६३ हिज्री (१५५६ ई०) को वह राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

बादशाह बालक और राज्य-विस्तार नहीं के बराबर थे, पर उसके शिक्षक और संरक्षक बैरम खां की स्वामिभक्ति और कार्य-कुशलता हर समय आड़े आने को तैयार रहती थी। आरम्भ के युद्धों में बैरम खां ने बड़ी ही नीति-कुशलता और वीरता का परिचय दिया। यह इसी का फल था कि अफ़गान षड्यंत्रों की जड़ उखड़ गई और हिंदुस्तान का काफी बड़ा हिस्सा मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।* पर चार बरस

*राज्यारोहण के पहले ही वर्ष में जब पठानों का प्रसिद्ध सेनानायक हेमू बक्काल (हेमचंद्र) गिरफ्तार होकर आया, तो बैरम खां के आग्रह करने पर

की खुद मुख्तारी ने कुछ तो वैरम खाँ का सिर फिराया और इधर वयोवृद्धि के साथ अकवर ने भी पर-पुरज़े निकाले, और कुछ दूसरे सरदारों के हृदय में ईर्ष्या की आग सुलगी, और उन्होंने तरह-तरह से बादशाह को शासन की लगाम अपने हाथ में लेने के लिए उभारा। नतीजा यह हुआ कि वैरम खाँ के प्रभाव का सूर्य अस्त हो गया और अकबर ने प्रत्यक्ष रूप से देश का शासन आरम्भ किया।

करीब बीस साल तक अकवर हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न सूबों को जीतने, अपने बाग़ी सरदारों की साजिशों को तोड़ने और वग़ावतों को दबाने में लगा रहा। यहाँ तक कि पंजाब और दिल्ली के सूबों के सिवा, जो उसे विरासत में मिले थे, काबुल, कंधार, कश्मीर, सिंध, मेवाड़, गुजरात, अवध, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, अहमदनगर, मालवा और खानदेश सब उसकी राज्यपरिधि के भीतर आ गए। अर्थात् पच्छिम में उसके राज्य का डाँड़ा हिंदुकुश से मिला हुआ था, और पूरव में बंगाल की खाड़ी से; उत्तर में हिमालय से टकराता था, तो दक्षिण में पच्छिमी घाट से। ये विजयें केवल अकबर के सेना नायकों की रण-कुशलता का ही सुफल न थीं, बल्कि इनमें पूरे तौर से खुद भी उसने अपनी बुद्धिमानी, दूरदर्शिता, मुस्तैदी, अथक परिश्रम, निर्भीकता और जागरूकता का प्रमाण दिया था। उसके सेनापति जब सुदूर प्रदेशों की चढ़ाई में लगे होते

भी उच्चमता अकबर ने अपनी तलवार एक असहाय कैदी के रक्त से रँगना पसंद न किया।

थे और वह जरा भी उनको गलत रास्ते की ओर झुकता हुआ देखता या उनको कोशिशों में ढिलाई पाता, तो अचानक बिजली की तरह, एक-एक हफ्ते की राह एक-एक दिन में तै करके उनके सिर पर जा धमकता था। मालवा, गुजरात और बंगाल की चढ़ाइयाँ आज तक उसकी मुस्तैदी और जवाँमर्दी की गवाही दे रही हैं।

उसकी दैव-दत्त प्रतिभा ने युद्धविद्या को जहाँ पाया, वहीं नहीं छोड़ा, किंतु उसकी प्रत्येक शाखा को और आगे बढ़ाया। आज के युग में तोपों के बनाने और उनसे काम लेने में जितनी प्रगति हुई है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं है; पर अकबर उस पुराने जमाने में ही उनकी आवश्यकता को जान गया था, और उसने एक ऐसी तोप ईजाद की थी, जो एक शिताबे में १७ फैर करती थी। कुछ ऐसी तोपें भी बनवाई थीं, जिनके टुकड़े-टुकड़े करके एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जा सकते थे।

हिंदुस्तान में बहुत पुराने जमाने से सेना-नायकों और मनसबदारों की धाँधली के कारण सेना की विचित्र अवस्था हो रही थी। सिपाहियों और सवारी की तनख्वाहों के लिए सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी गई थीं। पर सेना को देखो तो पता नहीं, और जो थी भी, उसकी कुछ अजीब हालत थी। किसी सैनिक के पास घोड़ा है, तो जीन नहीं, हथियार है, तो कपड़े नहीं। अकबर ने सबसे पहले अपनी सुधारक दृष्टि इसी ओर डाली और सिपाहियों को सरदारों के पोषण से निकालकर

राज्य की छत्रच्छाया में लिया । उनकी नकद तनख्वाहें बाँध दीं और चेहरानवीसी तथा घोड़ों के दाग़ के द्वारा उनको बदनीयती के चंगुल से छुटकारा दिलाया, और इस प्रकार समय पर काम देनेवाली स्थायी सेना (स्टैंडिंग आर्मी) की नींव डाली । इस प्रकार अकबर ही पहला व्यक्ति है, जिसने प्राचीन समस्त पद्धति को तोड़कर राज्य की शक्ति तथा अधिकार की स्थापना की ।

यद्यपि दुनिया में महान् विजेताओं की श्रेणी में अकबर को भी, अपनी चढ़ाइयों की सफलता और विजित भूखंड के विस्तार की दृष्टि से, विशिष्ट पद प्राप्त है; पर जिस बात ने वस्तुत: अकबर को अकबर बनाया, वह उसका जंगी कारनामा नहीं है, किन्तु वह अधिभूत की सीमा को पारकर अध्यात्म तक फैली हुई है । उसने जीवन के आरम्भ में ही विपद के विद्यालय में जो शिक्षा पाई थी, वह ऐसी उथली न थी कि अपने बाप की तबाही और खड़े-खड़े हिंदुस्तान से निकाले जाने और दर-दर ठोकरें खाते फिरने से प्रभावकारी उपदेश न ग्रहण करता । और यह बात सच हो या न हो कि उसके पिता को ईरान के बादशाह तहमास्प सफ़वी ने हिंदुस्तान लौटते समय दो उपदेश दिये थे—एक यह कि पठानों को व्यापार में *लगाना*, दूसरा यह *कि भारत की देशी जातियों को अपना* बनाना; पर समय ने स्वयं उसको बता दिया कि राज्य को टिकाऊ बनाने का कोई उपाय हो सकता है, तो वह यह है कि उसकी नींव तलवार की पतली धार के बदले लोक-कल्याण

के द्वारा प्रजा के हृदयों में स्थापित की जाय। अतः पहले ही साल उसने एक ऐसा आदेश निकाला, जो इंग्लैंड की आज की सारी उन्नति-समृद्धि का रहस्य है, पर जो सैकड़ों साल तक ठोकरें खाने के बाद उसको सूझ गया। अर्थात् व्यापार-वाणिज्य को उन सब करों से मुक्त कर दिया, जो उसकी उन्नति में बाधक हो रहे थे। और यद्यपि आरम्भ में उसकी अल्पवयस्कता और असहायता के कारण वह पूरी तरह कार्यान्वित न हो सका, पर जब शासन का सूत्र उसके हाथ में आया, तो वह उसको जारी करके रहा। यह तो वह वर्ताव है, जो भीतरी व्यापार के साथ किया गया। विदेशी व्यापार को भी कुछ भारी करों से बाधा पहुँच रही थी, जो मीर बहरी या समुद्री कर (सी कस्टम्स) कहलाते थे। अकबर ने इन करों को भी इतना घटा दिया कि वह नाम-मात्र के अर्थात् ढाई प्रतिशत रह गए और इससे देश के विदेशी व्यापार को जितना लाभ हुआ, उसे बताने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि 'फ्री ट्रेड' अर्थात् 'अबाध वाणिज्य' ब्रिटिश सरकार का ओढ़ना-बिछौना है, पर इस जमाने में भी समुद्री करों की दर अकबर की बाँधी हुई दरों से कहीं अधिक है।

सारी दुनिया के क़ानूनों का यह झुकाव रहा है कि आरम्भ में छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है; पर जब सभ्यता में उन्नति और जाति की स्थिति में प्रगति होने लगती है, तो सजा में भी नरमी होती जाती है। भारतवर्ष में भी पुरातन-काल

से कुछ जंगली सजाओं का रिवाज चला आता था, जैसे हाथ-पाँव काट देना, अन्धा कर देना आदि। अकबर के जागृत विवेक ने इनकी अमानुपिकता को समझ लिया और राज्यारोहण के छठे साल में ही इनको बिलकुल बंद कर दिया। पुराने जमाने में यह रीति थी कि युद्ध में जो कैद होते थे, वह जीवन भर के लिए स्वतंत्रता से वंचित होकर विजेता के दास बन जाते थे। रणनीति और राजनीति की दृष्टि से इसका कैसा ही असर क्यों न पड़ता हो, पर मानवता के विचार से यह प्रथा जितनी क्रूर और अत्याचारपूर्ण है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं। इसलिए अकबर के लिए यह गर्व करने योग्य बात है कि उसने सन् ७ जुल्स (राज्यारोहण संवत्) में ही यह नियम बना दिया कि जो आदमी लड़ाई में कैद हो, वह गुलाम न बनाया जाय। जो पहले से यह अवस्था प्राप्त कर चुके थे, उनका भी गुलामी का दाग़ इस हद तक धो दिया कि उनके कुछ विशेष अधिकार निश्चित कर दिये और उनका नाम भी दास या गुलाम से बदलकर 'चेला' कर दिया। इसी के साथ गुलामों की आम खरीद-बिक्री भी एकदम बंद कर दी। इसके अगले साल यात्रियों से एक ज़बरदस्ती का कर लिया जाता था, उसको उठा दिया। यह मानो प्रथम बार इस बात की घोपणा थी कि हर आदमी अपने धर्म-विश्वास की दृष्टि से स्वाधीन है और उसके स्वधर्माचरण में किसी प्रकार की रोक-टोक न होनी चाहिए।

सन् ७ जुल्स में जो विचार कुछ दबी ज़बान में प्रकट

किया गया था, अगले साल खूब जोर-शोर से उसकी घोषणा की गई और अकबर ने ऐसा काम किया, जिसने वस्तुतः शासक और शासित का पद राज्य के सामने एक कर दिया अर्थात् जिजिया माफ़ कर दिया। जिज़िया वस्तुतः कोई वैसा कुत्सित कर नहीं था, जैसा कि यूरोपियन इतिहासकारों ने समझा है; किंतु वह विजित जाति से इसलिए लिया जाता था कि वह सैनिक-सेना मुस्तसना होती थी। उद्देश्य यह था कि देश-रक्षा के लिए विजेता जाति जिस प्रकार अपनी जान लड़ाती थी, विजित जाति उसी तरह अपने माल से उसमें मदद करे। भारत के इतिहास का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो मालूम होगा कि आरंभ में कम्पनी सरकार देशी राज्यों में जो सहायक सेना या कांटिंजेंट के नाम से कुछ पलटनें रखकर उनका खर्च वसूल किया करती थी, वह भी एक तरह का जिजिया ही था। और आज भी जो सैनिक या साम्राज्य-सम्बन्धी (इम्पीरियल) व्यय कहलाते हैं और जिनमें देशवासियों का कोई अधिकार या आवाज नहीं, उनका नाम कुछ ही क्यों न रखा जाय, जिज़िया की परिभाषा उन पर भी घटित हो सकती है।

मुसलमानों में बहुत पुराने समय से अनिवार्य भरती (कांस्क्रिप्शन) अर्थात् आवश्यकता के समय सैनिक रूप से काम करने की बाध्यता चली आ रही है। इस कारण मुस्तसना होने का अधिकार एक बहुत बड़ा हक़ था। और संभव होता तो शायद बहुत-से मुसलमान भी उनसे लाभ उठाते; पर चूंकि

अकबर का उद्देश्य विजेता और विजित का भेद मिटाकर अपने शासन को स्वदेशी भारत की राष्ट्रीय सरकार बनाना था, जिसकी सच्ची उन्नति के लिए हिंदुओं की प्रखर बुद्धि और शौर्य-साहस की वैसी ही आवश्यकता थी, जैसी मुसलमानों की कार्य-कुशलता और वीरता की, और देश की शांति के रक्षण-पोषण में हिंदू भी उसी प्रकार भाग लेने के अधिकारी थे, जिस प्रकार मुसलमान, इसलिए विजित और विजेता में जिज़िया के द्वारा जो भेद स्थापित किया गया था, वह वास्तव में बाक़ी न रहा था और जिज़िया वस्तुतः उत्पीड़क कर हो गया था। इसलिए उसने उसको उठाकर प्रजा के सब वर्गों की समानता की घोषणा की। यद्यपि अकबर ने हमारी उदार सरकार की तरह इस बात की घोषणा नहीं की थी कि राज्यकार्य में जाति, रंग या धर्म का कोई भेदभाव न रखा जायगा; पर व्यवहारतः वह नियुक्तियों में, चाहे वह शासन-विभाग की हों, चाहे सेना या अर्थ-विभाग की, अब्दुल्ला और रामदास में कोई भेद न करता था। यहाँ तक कि कोई भी पद ऐसा न था, जो हिंदु-मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से खुला हुआ न हो।

उसकी निष्पक्षता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि मानसिंह को खास सूबे काबुल की गवर्नरी का गौरव दिया, जहाँ की आबादी सोलहों आने मुसलमान थी। इसी प्रकार फ़ौजी चढ़ाइयों का सेनापतित्व अगर खान-खाना और खाँ आज़म को सौंपा जाता था, तो ... और मानसिंह का दरजा भी उनसे कम न होता

शासन तथा अर्थ-प्रबंध के मामलों में अगर मुजफ्फर खाँ की सलाह से काम किया जाता था, तो टोडरमल की सम्मति उससे भी अधिक आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। इसी तरह फैज़ी और अबुलफ़ज़ल यदि दरबार की शोभा थे, तो बीरबल भी अकबर के राजमुकुट का एक अमूल्य रत्न था। यही वह वस्तु थी, जिसने राजपूतों और ब्राह्मणों को राज्य का इतना शुभचिंतक बना दिया था। उन्हें अपने बाग़ी देश वासियों और सधर्मियों के मुकाबले लड़ने और जान देने में भी आगा-पीछा न होता था।

जान पड़ता है कि अकबर को रात-दिन यही चिंता रहती थी कि किसी तरह भारत की विभिन्न जातियों-संप्रदायों को एक में मिलाकर शक्तिशाली स्वदेशी राज्य की स्थापना करे। इसीलिए उसने पुराने राजपूत घराने से नाता जोड़ने की रीति चलायी, जिसमें राजकुल को वे गैर की जगह अपना समझने लगें। इसी उद्देश्य से सन् २३ जुल्स में फ़तहपुर सीकरी के 'इबादतखाने'* (उपासनागृह) में उन धार्मिक शास्त्रार्थों की आयोजना की, जिनमें प्रत्येक जाति तथा धर्म के विद्वान् सम्मिलित होते थे और बिना किसी भय-संकोच के अपने-अपने

*एलफान्स्टन, ब्राकमैन आदि अंगरेज ऐतिहासिकों ने इस सम्मेलन को बहुत महत्व दिया है, पर वस्तुतः यह कोई नई बात न थी। चारों आरम्भिक खलीफ़ों के अतिरिक्त उमैया और अब्बासी घरानों के खलीफ़ों का भी धार्मिक विषयों में नेतृत्व—इमाम—का पद सर्व-स्वीकृत था। इसी प्रकार तुर्कों में शैखुल इसलाम अब तक मुजतहिद (धर्माध्यक्ष) का दरजा रखते हैं और शिया लोगों में ऐसा कोई समय नहीं होता, जब दो-चार मुजतहिद मौजूद न हों।

धर्म के तत्त्वों की व्याख्या करते थे । इन्हीं शास्त्रार्थों और ज्ञान-चर्चाओं का यह फल हुआ कि अकबर जो बिलकुल अपढ़ था, विचारों की उस ऊँचाई पर पहुँच गया, जो केवल दार्शनिकों के लिए सुलभ है और जहाँ से सभी धर्मों के सिद्धांत आध्यात्मिकता का रंग लिये हुए आते हैं । इनका एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि जो लोग इनमें सम्मिलित होते थे, उनकी दृष्टि अधिक व्यापक हो जाने से धर्मगत संकीर्णता और कट्टरपन अपने-आप घट गया ।

उस काल में इसलाम धर्म की शताब्दियों की गतानुगतिकता और धर्माचार्यों के पांडित्य-प्रदर्शन से विचित्र दशा हो रही थी । सरलता जो इसलाम की विशेषता है, नाम को बाकी न रही थी, और धर्म अंधविश्वासों और गतानुगतिक विचारों की गठरी बन रहा था । औलियों और मुल्लाओं की हालत इससे भी गयी-बीती थी । यद्यपि ये लोग मक्कारी का लबादा हर समय ओढ़े रहते थे, पर पद और प्रतिष्ठा के लिए धर्म के विधि-निषेधों को बच्चों का खेल समझते थे, और जैसा मौक़ा देखते, वैसा ही फ़तवा तैयार कर देते थे । इस सम्बन्ध में मखदूमुल-मुल्क और सदरजहाँ के कारनामे और जमानासाजी जानने योग्य है । इन्हीं कारणों से अकबर का वह आरंभिक धर्मोत्साह, जिससे प्रेरित हो, वह पैदल अजमेर-शरीफ़ की यात्रा, या दिन-रात 'या मुईन' का जप किया करता था, ठंडा होता गया । और वह यह नतीजा निकालने को लाचार हुआ कि जब तक अंधानुकरण के उस मजबूत

जाल से, जिसने मनुष्यों में बुद्धि-विवेक को क़ैद कर रखा है, छुटकारा न मिले, किसी स्थायी सुधार की आशा नहीं हो सकती। अतः उसने सन् जुल्स के २४ वें साल में उलेमा से इमाम-आदिल अर्थात् प्रधान धर्म निर्णायक की सनद हासिल की और दीने इलाही की नींव डाली, जिसका दरवाजा सब धर्मवालों के लिए समान रूप से खुला हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि यह कार्य एक अपढ़ तुर्क की सामर्थ्य और अधिकार के बाहर की बात थी, और इस कारण अबुलफ़ज़ल जैसे प्रकांड पंडित को अपना सारा बुद्धिबल लगा देने पर भी जैसी सफलता चाहिए थी, वैसी न हुई; बल्कि एक खेल-तमाशा बनकर रह गया। पर इसका इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि धर्मगत असहिष्णुता की बुराई, जो देशवासियों को पारस्परिक वैमनस्य के कारण सिर न उठाने देती थी, एकदम दूर हो गई और संकीर्णता की जगह लोगों के विचारों में उदारता आ गई।

अकबर यद्यपि स्वयं कुछ पढ़ा-लिखा न था, पर वह भली भाँति जानता था कि धार्मिक द्वेष का कारण अज्ञान है। और उसे हटाने तथा अधीन जातियों पर ठीक प्रकार से शासन करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उनके इतिहास, साहित्य और रीति-व्यवहार की अधिक जानकारी प्राप्त की जाए। इसी विचार से बग़दाद के खलीफ़ों की तरह उसने भी एक भाषांतर-विभाग स्थापित कर बीसियों संस्कृत ग्रंथों का उलथा करा डाला। दाढ़ी मुंड़ाने, गोमांस और लहसुन-प्याज न

खाने, और ग़मी के मौक़ों पर भद्र कराने का उद्देश्य भी यही था कि शासक और शासित के विचारों का भेद मिट जाए। अकबर भली-भाँति जानता था कि वह मुसलमान तो है ही, इसलिए मेल एकता स्थापित करने के लिए यदि उसको आवश्यकता है, तो हिंदुओं की रीति-भाँति ग्रहण करने की है।

जातियों और धर्मों का बिलगाव-विरोध दूर करने के बाद अकबर ने उन सुधारों की ओर ध्यान दिया, जो मानव-समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। समाज-संघटन का आधार विवाह-व्यवस्था है, और इस सम्बन्ध में आये दिन झगड़े पैदा होते रहते हैं, जो कुल-कुटुम्ब का नाश कर देते या स्वयं पति-पत्नी के जीवन को मिट्टी में मिला देते हैं। और आरम्भ में ही पूरी सावधानी न बरती जाय, तो इनका असर वर्तमान पीढ़ी से लगाकर आनेवाली पीढ़ी तक पहुँचता है। अकबर ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर निश्चय किया कि निकट सम्बन्धियों में ब्याह न हुआ करे। इसी प्रकार किसी का ब्याह बालिग होने के पहले या स्त्री उम्र में पुरुष से १२ साल से अधिक बड़ी हो, तो भी न हुआ करे। बहुविवाह भी अनुचित बताया गया और इन बातों की निगरानी के लिए यह नियम बना दिया गया कि सब ब्याह सरकारी दफ्तर में लिखे जाया करें।

हिंदुओं की ऊँची जातियों में विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा न होने से समाज-व्यवस्था में जो खराबियाँ पड़ती हैं, वे किसी से छिपी नहीं हैं। और यद्यपि ऐसे मामलों में कानूनी

हस्तक्षेप उचित नहीं है, पर अकबर ने इस विषय में बड़ी दूर-दर्शिता से काम लिया और यह अति हितकर नियम बना दिया कि अगर कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहे, तो उसको रोकना अपराध होगा। इनमें अधिकतर वे महत्वपूर्ण सुधार हैं, जिनके लिए आजकल समाज-सुधारक जोर दे रहे हैं, पर नक्कार-खाने में तूती की आवाज़ कोई नहीं सुनता। सती की क्रूर-कुत्सित प्रथा के अंत का श्रेय भी अकबर ही को प्राप्त है। और अपने विधानों से उसको ऐसा प्रेम था कि जब राजा जयमल बंगाल की चढ़ाई में रास्ते में चौंसा पहुँचकर गत हो गया और उसके सम्बन्धियों ने उसकी रानी को सती होने पर विवश किया, तो अकबर खुद लम्बी मंजिलें मारकर वहाँ जा पहुँचा और उनको इस कुत्सित कार्य से बाज़ रखा।

विद्या आत्मा का आहार और जाति की उन्नति का आधार है, इसलिए अकबर ने इस ओर भी पूरा ध्यान दिया और उपयुक्त पाठ्यक्रम निर्धारित करके शिक्षा-प्रणाली में भी ऐसे हितकर सुधार किए कि बक़ौल अबुलफ़ज़ल के जो बात बरसों में हो पाती थी, वह महीनों में होने लगी। शराब, ताड़ी आदि पर कर लगाकर जनसाधारण के अनाचार को उसने अपना ख़ज़ाना भरने का साधन नहीं बनाया; पर इसके साथ-साथ लोगों के वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति के अनुसार यह भी ताकीद कर दी कि अगर कोई छिपा-छिपाकर नशीली चीजों का इस्तेमाल करे, तो उससे रोक-टोक न की जाए।

वर्तमान काल में हमारे राजनीतिक सुधारक आबकारी कर और मादक द्रव्यों पर जैसी आपत्तियाँ किया करते हैं, उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, और न यह बताने की ही कि अकबर के प्रबंध पर वह कहाँ तक चरितार्थ हो सकती हैं। धान्य और पशुओं की वृद्धि तथा कलाकौशल की उन्नति के लिए उसने यह उपाय किया कि एक-एक वस्तु की उन्नति के लिए एक-एक अधिकारी को जिम्मेदार बना दिया। और इस बात की निगरानी के लिए, कि उन्होंने अपने उस विशेष कर्तव्य के पालन पर कहाँ तक ध्यान दिया, नौ-रोज के उत्सव के बाद खास शाही महल में एक बड़ा बाजार लगता था, जिसमें खुद बादशाह, प्रमुख अधिकारी और दरबारी तथा राजकुल की महिलाएँ खरीद-बिक्री करती थीं। हर आदमी अपना कमाल दिखाने की कोशिश करता था।

इस बाजार को वर्तमान काल की प्रदर्शनियों का मूल मान सकते हैं। और प्रकार से भी उसे व्यापार-व्यवसाय की उन्नति का अत्यधिक ध्यान रहता था, जिसका एक बहुत छोटा-सा प्रमाण दलालों की नियुक्ति है। ग़रीबों की मदद के लिए राजधानी के बाहर दो विशाल भवन 'खैरपुरा' और 'धर्मपुरा' के नाम से बनवाए गये, जिनमें से एक मुसलमानों के लिए था, दूसरा हिंदुओं के लिए। इनमें हर समय हर आदमी को तैयार खाना मिलता था। इन मकानों में जब जोगी बहुत ज्यादा जमा होने लगे, जिससे दूसरों को तकलीफ़ होने लगी,

तो उनके लिए एक अलग मकान 'जोगीपुरा' के नाम से बनवाया गया।

राज्य-प्रबंध की उत्तमता इन्हीं दो-चार बातों पर अवलंबित होती है—वैयक्तिक स्वाधीनता, शांति और व्यवस्था, करों का नरम होना और बँधी दर से लिया जाना, रास्तों का अच्छी हालत में रहना आदि। और इस दृष्टि से अकबर के राज्य-काल पर विचार किया जाय, तो वह किसी से पीछे न दिखाई देगा। वैयक्तिक स्वाधीनता की तो यह स्थिति थी कि हर आदमी को अख्तियार था कि जो धर्म चाहे स्वीकार करे। इस विषय में यहाँ तक व्यवस्था थी कि कोई हिंदू बालक बचपन में मुसलमान हो जाय, तो बालिग़ होने पर अपने पैतृक धर्म को पुनः ग्रहण कर सकता था। और कोई हिंदू स्त्री किसी मुसलमान के घर में पायी जाय, तो अपने वारिसों के पास पहुँचायी जाए।

आज के समय में पादरी लोग व्यक्ति-स्वातंत्र्य की आड़ में विभिन्न जातियों के अनाथ बच्चों के साथ जो वर्ताव किया करते है या कहीं जनाना मिशनों के जरिए अपढ़ स्त्रियों के मन में अपने पैतृक धर्म के प्रति विरक्ति उत्पन्न करके जिस तरह घर बिगाड़ने का कारण हुआ करते हैं, उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं।

शांति-रक्षा के लिए भी अकबर ने बहुत ही बुद्धिमत्ता-पूर्ण आदेश निकाले थे, जैसे कि जरायमपेशा लोगों और अन्य ...लों की निगरानी के लिए हर मुहल्ले में एक-एक

आदमी को, जो 'मीर महल्ला' कहलाता था, जिम्मेदार बना देने और कोतवाल व चौकीदारों के कर्त्तव्यों की जिम्मेदारियों की सूची से प्रकट होता है। लोगों की फ़रियाद सुनने और उनके आपस में झगड़े निबटाने के लिए काज़ी और मीर अदल नियुक्त थे, जिनमें काज़ी का काम जाँच करना और मीर अदल का निर्णय सुनाना था। सबकी निगरानी के लिए एक उच्च अधिकारी सदरजहाँ नाम से नियुक्त था। कर्त्तव्यों के इस विभाग से प्रकट होता है कि न्याय-दान का काम कैसी साव-धानी से होता होगा। और खूबी यह है कि अदने-से-अदना आदमी बिना किसी खर्च के इस व्यवस्था से लाभ उठा सकता था; क्योंकि उस जमाने में न कोई स्टाम्प कानून था और न वकील-मंडली।

कर-व्यवस्था की ओर आरम्भ से ही अकबर का जो ध्यान था, उसकी चर्चा पहले आनुषंगिक रूप से हो चुकी है। उसने बड़ी ही दृढ़ता और बुद्धिमत्ता के साथ उन सब करों को एकबारगी उठा दिया, जो राष्ट्र की उन्नति में बाधक थे या लोगों का दिल दुखाते थे। और जो कर बहाल रखे, उनके सम्बन्ध में भी सीधे और साफ कायदे बना दिये। मालगुजारी के बंदोबस्त के मुख्य सिद्धांत यह हैं कि जोती-बोयी जानेवाली भूमि का रक़बा निश्चित हो। लगान कुछ साल की औसत पैदावार के विचार से जमीन के उत्तम-मध्यम होने का ध्यान रखकर ऐसी मध्यम दर से नियत किया जाए, जिसमें अच्छी-बुरी दोनों तरह की फ़सलों के लिए ठीक पड़े, और

किसान को अपनी जोत की जमीन के अतिरिक्त परती जमीन को भी लेने की प्रवृत्ति हो, यह सिद्धांततः तो सरकार के लाभ की दृष्टि से आवश्यक है; पर किसान का लाभ इसमें है कि जमीन पर उसको क़ब्जा रखने का हक़ (यत्मी अधिकार) हासिल हो, जिसमें वह मन लगाकर उसको जोते-बोये और उसकी उर्वरता बढ़ाने का भी यत्न करे, लगान की दर निश्चित और ज्ञात हो, जिसमें अहलकारों को उसे ज़्यादा सताने का मौक़ा न मिले, और इतनी नरम हो कि हर साल उसे कुछ बचत होती रहे, जिसमें फ़सल मारी जाने पर आसानी से गुजर कर सके। यही वह सिद्धांत थे, जिन पर टोडरमल और मुजफ्फर खाँ की मालगुजारी का बंदोबस्त आश्रित था और वही आज तक मालगुजारी के कारिंदों के आधार हैं। जिले का माल अफ़सर 'आलिम गुज़ार' कहलाता था, जिसे अच्छी-बुरी फ़सल का ध्यान रखते हुए मालगुजारी वसूल करने के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार प्राप्त थे, और सूबे का गवर्नर सेनापति होता था।

गणना-शास्त्र (स्टैटिस्टिक्स) की इस जमाने में इतनी उन्नति हुई कि भारत सरकार ने उसका एक स्वतंत्र विभाग ही बना दिया है और सब सरकारी दफ्तरों का बड़ा समय नक्शे तैयार करने में जाता है। और जो नतीजे उनसे निकलते हैं, उनसे निरीक्षण तथा प्रबंध में बड़ी सहायता मिलती है। पर इसकी नींव भी हिंदुस्तान में अकबर ही ने डाली थी, और
के अफसरान जो दैनिक, साप्ताहिक और मासिक

रिपोर्ट भेजा करते थे, उनसे केंद्रीय अधिकारियों को निगरानी का अच्छा मौक़ा मिलता था।

अब गमनागमन की सुविधा की दृष्टि से अकबर के प्रबंध को देखा जाय, तो दिखाई देगा कि यात्रा-कर तो उसने एकदम उठा दिया था, और सुप्रबंध के कारण हर आदमी निर्भय एक जगह से दूसरी जगह आ-जा सकता था। इसके सिवा आरंभिक राज्य-काल में मुईनुद्दीन चिश्ती के प्रति अपनी सविशेष श्रद्धा के कारण आगरे से अजमेर शरीफ़ तक एक पक्की सड़क बनवा दी थी, जिस पर कोस-कोस भर पर छोटे-छोटे मीनार और कुएँ, और हर मंजिल पर सराय थी, जिसमें मुसाफिरों को पक्का खाना मिलता था। सन् जुलूस के ४२ वें साल में लोक-कल्याण की दृष्टि से इस हुक्म को आम कर दिया; पर जान पड़ता है कि अकबर को इस योजना को पूरा करने का मौक़ा नही मिला। सन् जुलूस ४१ में अकाल पड़ा और अकबरनामे को देखने से मालूम होता है कि अकबर ने गरीब मोहताजों की सहायता का विशेष प्रबंध किया था, और इस काम के लिए विशेष कर्मचारी भी नियुक्त किए थे। इससे प्रकट है कि उस अभिनंदनीय व्यवस्था का प्रवर्तक भी अकबर ही था, जिसकी ब्रिटिश सरकार के शासन में, अनेक अकाल कमीशनों की बदौलत बहुत कुछ उन्नति हुई। हमने केवल उन बड़े-बड़े विभागों का संक्षिप्त परिचय दिया है, जिनका प्रभाव जन-साधारण के सुख-दुःख पर पड़ता है। इसके सिवा और भी जितने महकमे थे, जैसे टकसाल, खजाना, ऊँटखाना, हाथीखाना

आदि, उनके नियम भी बड़ी सूक्ष्मदर्शिता के साथ बनाए गए थे। सारांश, राज्य का कोई भी विभाग ऐसा न था, जिसको अकबर की बुद्धिमानी से लाभ न पहुँचा हो।

अब राज्य-प्रबंध से आगे बढ़कर अकबर के निजी जीवन पर दृष्टि डाली जाए, तो वह बडा ही प्यार करने योग्य व्यक्ति था। विनोदशीलता इतनी थी कि कैसा ही 'शुष्कं काष्ठं' व्यक्ति उसकी गोष्ठी में सम्मिलित हो, मजाल नहीं, हास्य-रस में शराबोर न हो जाए। सौजन्य और दया का तो पुतला था। जिस आदमी की उस तक पहुँच हो जाती, उम्र भर के लिए अर्थ-चिंता से मुक्त हो जाता। और जिस शत्रु ने उसके सामने सिर झुका दिया, उसके लिए उसकी क्षमा और अनुग्रह का स्रोत उमड़ उठा और उसको अपने खास दरबारियों में दाखिल किया। भोजन एक ही समय करता और विषय-वासना के भी वश में न था। यद्यपि पढ़ा-लिखा न था, पर अपना समय प्राय: शास्त्र-चर्चा तथा सब प्रकार के ग्रंथों को पढ़वाकर सुनने में लगाया करता था। वह विद्वानों का, चाहे वे किसी धर्म या जाति के हों, बड़ा आदर करता था। उसमें आदमियों की पहचान जबरदस्त थी और चुनाव की यह खूबी थी कि जो आदमी जिस कार्य के लिए विशेष योग्य होता था, वही उसके सुपुर्द किया जाता था।

यही कारण था कि उसकी योजनाएँ कभी विफल न होती थी। इसी योग्यता की बदौलत वह अमूल्य रत्न उसकी दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे; जो विक्रमादित्य के नवरत्न को

भी मात करते थे। शिकार का बेहद शौक़ था, और हाथियों का तो आशिक़ ही था। संगीत शास्त्र के तत्त्वों से भी अपरिचित न था। इमारतें बनवाने की ओर भी बहुत ध्यान था और बहुत से शानदार क़िले और भव्य प्रासाद आज तक उसकी सुरुचि और राजोचित उच्चाकांक्षा के साक्षी-स्वरूप विद्यमान हैं। ईश्वर ने उसे गुण-राशि के साथ-साथ रूप निधि भी प्रदान की थी। जहाँगीर ने "तुज्के जहाँगीर" में बेटे की मुहब्बत और चित्रकार की कलम से उसकी तस्वीर खींची है, जिसका उलथा पाठकों के मनोरंजन के लिए नीचे दिया जाता है—

"बुलंदबाला, मझोला क़द, गेहुआँ रंग, आँखों की पुतलियाँ और भवें स्याह, रंगत गोरी थी, पर उसमें फीकापन न था, नमकीनी अधिक थी। सिंह की ऐसी चौड़ी छाती और उभरी हुई, हाथ और बाँहें लंबी, बायें नथने पर चने के बराबर एक मस्सा, जिसको सामुद्रिक के पंडित बहुत शुभ मानते थे। आवाज़ ऊँची और बोली में एक खास लोच तथा सहज माधुर्य था। सजधज में साधारण लोगों की उनसे कोई समानता न थी, उनके चेहरे पर सहज तेज विद्यमान था।"

आखिरी उम्र में कपूत बेटों ने इस देशभक्त बादशाह को बहुत-से दग़ा दिये और इसी दुःख में वह २० जमादी-उल आखिर (...सितम्बर सन् १६०५ ई०) को इस नाशवान् जगत् को छोड़कर परलोक सिधारा और सिकंदरे के शानदार

मकबरे में अपने उज्ज्वल कीर्ति-कलाप का अमर स्मारक छोड़ कर दफन हुआ ।

अकबर में यद्यपि चंद्रगुप्त की वीरता और महत्वाकांक्षा, अशोक की साधुता और नियम-निष्ठा और विक्रमादित्य की महत्ता तथा गुणज्ञता एकत्र हो गई थी, फिर भी जिस महत्कार्य की नींव उसने डाली थी, वह किसी एक आदमी के बस का न था, और चूँकि उसके उत्तराधिकारियों में कोई उसके जैसे विचार रखनेवाला पैदा न हुआ, इसलिए वह पूरी तरह सफल न हो सका । फिर भी उसके सच्ची लगन से प्रेरित प्रयास निष्फल नहीं हुए और यह उन्हीं का सुफल था कि सामयिक अधिकारियों की इस ओर उपेक्षा होते हुए भी हिन्दू-मुसलमान कई शताब्दियों तक बहुत ही मेल-मिलाप के साथ रहे ।

और, आज के समय में भी जब बिगाड़-विरोध के सामान सब ओर से जमा होकर और भयावनी बाढ़ का रूप धारण कर राष्ट्रीय नौका को डुबाने के लिए भायँ-भायँ करते बढ़ रहे हैं, यदि कोई आशा है, तो उसी के मंगल नाम से, जो हमारे बेड़े को पार लगाने में महामंत्र का काम करेगा । अतः हे हिंदू-मुसलमान भाइयो ! मोहनिद्रा को त्यागकर उठो और सिकंदरे की राह लो, जिसमें उसकी पवित्र समाधि पर मुसलमान अगर दो फूल चढ़ाएँ तो हिंदू भाइयो, तुम भी थोड़ा पानी डालकर उसकी आत्मा को प्रसन्न कर दिया करो । कोई आश्चर्य नहीं कि उसके आशीर्वाद से हमारे बे-बुनियाद झगड़े और मतभेद मिटकर फिर मेल और एकता की सूरत पैदा हो जाय । खेद

और लज्जा की बात है कि ब्रिटिश सरकार परदेशी होते हुए भी अपने को उसका स्थानापन्न और उसके अनुकरण में गौरव माने और तुम अपने देशभक्त राष्ट्रीय सम्राट् की बहुमूल्य विरासत की ओर उठकर भी न देखो।

●

स्वामी विवेकानंद

कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास और पाप की प्रबलता होती है, तब-तब मैं मानव-जाति के कल्याण के लिए अवतार लिया करता हूँ। इस नाशवान जगत् में सर्वत्र सामान्यतः और भारतवर्ष में विशेषतः जब कभी पाप की वृद्धि या और किसी कारण (समाज के) संस्कार या नवनिर्माण की आवश्यकता हुई, तो ऐसे सच्चे सुधारक और पथप्रदर्शक प्रकट हुए हैं, जिनके आत्मबल ने सामयिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त की। पुरातन काल में जब पाप-अनाचार प्रबल हो उठे, तो कृष्ण भगवान् आये और अनीति-अत्याचार की आग बुझायी। इसके बहुत दिन बाद क्रूरता, विलासिता और स्वार्थपरता का फिर दौरदौरा हुआ, तो बुद्ध भगवान् ने जन्म लिया और उनके उपदेशों ने धर्मभाव की ऐसी धारा बहा दी, जिसने कई सौ साल तक जड़वाद को सिर न उठाने दिया। पर जब कालप्रवाह ने इस उच्च आध्यात्मिक शिक्षा की नींव को भी खोखली कर दिया और उसकी आड़ में दंभ-दुराचार ने फिर जोर पकड़ा, तो शंकर स्वामी ने अवतार लिया और अपनी वाग्मिता तथा योगबल से धर्म के परदे में होनेवाली बुराइयों की जड़ उखाड़ दी। अनंतर कबीर साहब और श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए और अपनी आत्म-साधना का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा गए।

ईसा की पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में जड़वाद ने फिर सिर उठाया, और इस बार उसका आक्रमण ऐसा प्रबल था, अस्त्र ऐसे अमोघ और सहायक ऐसे सबल थे कि भारत के आत्मवाद को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा और कुछ ही दिनों में हिमालय से लगाकर कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक उसकी पताका फहराने लगी। हमारी आँखें इस भौतिक प्रकाश के सामने चौंधिया गईं, और हमने अपने प्राचीन तत्वज्ञान, प्राचीन शास्त्रविज्ञान, प्राचीन समाज-व्यवस्था, प्राचीन धर्म और प्राचीन आदर्शों को त्यागना आरंभ कर दिया। हमारे मन में दृढ़ धारणा हो गई कि हम बहुत दिनों से मार्ग-भ्रष्ट हो रहे थे और आत्मा-परमात्मा की बातें निरी ढकोसला हैं। पुराने जमाने में भले ही उनसे कुछ लाभ हुआ हो, पर वर्तमान काल के लिए यह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं और इस रास्ते से हटकर हमने नये राज-मार्ग को न पकड़ा, तो कुछ ही दिनों में धरा-धाम से लुप्त हो जाएँगे।

ऐसे समय पुनीत भारत-भूमि में पुनः एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसके हृदय में अध्यात्म-भाव का सागर लहरा रहा था; जिसके विचार ऊँचे और दृष्टि दूरगामिनी थी; जिसका हृदय मानव-प्रेम से ओतप्रोत था। उसकी सच्चाई-भरी ललकार ने क्षण भर में जड़वादी संसार में हलचल मचा दी। उसने नास्तिक्य के गढ़ में घुसकर साबित कर दिया कि तुम जिसे प्रकाश समझ रहे हो, वह वास्तव में अंधकार है, और यह सभ्यता जिस पर तुमको इतना गर्व है, सच्ची सभ्यता

नहीं। इस सच्चे विश्वास के बल से भरे हुए भाषण ने भारत पर भी जादू का असर किया और जड़वाद के प्रखर प्रवाह ने अपने सामने ऐसी ऊँची दीवार खड़ी पायी, जिसकी जड़ को हिलाना या जिसके ऊपर से निकल जाना उसके लिए असाध्य कार्य था।

आज अपनी समाज-व्यवस्था, अपने वेदशास्त्र, अपने रीति-व्यवहार और अपने धर्म को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उसी पुतात्मा के उपदेशों का सुफल है कि हम अपने प्राचीन आदर्शों की पूजा करने को प्रस्तुत हैं और यूरोप के वीर पुरुष और योद्धा, विद्वान् और दार्शनिक हमें अपने पंडितों, मनीषियों के सामने निरे बच्चे मालूम होते हैं। आज हम किसी बात को, चाहे वह धर्म और समाज-व्यवस्था से सम्बंध रखती हो या ज्ञान-विज्ञान से, केवल इसलिए मान लेने को तैयार नहीं हैं कि यूरोप में उसका चलन है। किन्तु उसके लिए हम अपने धर्मग्रंथों और पुरातन पूर्वजों का मत जानने का यत्न करते और उनके निर्णय को सर्वोपरि मानते हैं। और यह सब ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानंद के आध्यात्मिक उपदेशों का ही चमत्कार है।

स्वामी विवेकानंदजी का जीवन-वृत्तांत बहुत संक्षिप्त है। दुःख है कि आप भरी जवानी में ही इस दुनिया से उठ गए और आपके महान् व्यक्तित्व से देश और जाति को जितना लाभ पहुंच सकता था, न पहुँच सका। १८६३ ई० में वह एक प्रतिष्ठित कामराय कुछ में उत्पन्न हुये। बचपन से ही

होनहार दिखाई देते थे। अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पायी और १८८४ में बी० ए० की डिग्री हासिल की। उस समय उनका नाम नरेंद्रनाथ दत्त था। कुछ दिनों तक ब्राह्म-समाज के अनुयायी रहे। नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होते और चूंकि गला बहुत ही अच्छा पाया था, इसलिए कीर्तन-समाज में भी शरीक हुआ करते थे। पर ब्रह्म-समाज के सिद्धांत उनकी प्यास न बुझा सके। धर्म उनके लिए केवल किसी पुस्तक से दो-चार श्लोक पढ़ देने, कुछ विधि-विधानों का पालन कर देने और गीत गाने का नाम नहीं हो सकता था। कुछ दिनों तक सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे।

उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। नवयुवक नरेंद्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरंभ किया और धीरे-धीरे उनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उनकी भक्त-मंडली में सम्मिलित हो गए और उस सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदांत रहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा तृप्त की। परमहंसजी के देहत्याग के बाद नरेंद्र ने कोट-पतलून उतार फेंका और संन्यास ले लिया। उस समय से आप विवेकानंद नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी गुरु-भक्ति गुरु-पूजा की सीमा तक पहुँच गई थी। जब कभी आप उनकी चर्चा करते हैं, तो एक-एक शब्द से श्रद्धा और सम्मान टपकता है। 'मेरे गुरुदेव' के नाम से उन्होंने न्यूयार्क में एक विद्वत्तापूर्ण भाषण किया, जिसमें परमहंसजी

के गुणों का गान बड़ी श्रद्धा और उत्साह के स्वर में किया गया है।

स्वामी विवेकानंद ने गुरुदेव के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है—देखने में वह बिलकुल साधारण आदमी मालूम होते थे। उनके रूप में कोई विशेषता न थी। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने मन में सोचा कि क्या यह संभव है कि यह सिद्ध पुरुष हों। मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँच गया और उनसे वह प्रश्न पूछे, जो मैं अक्सर औरों से पूछा करता था।—"महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं?" उन्होंने जवाब दिया—'हाँ।" मैंने फिर पूछा—"क्या आप उसका अस्तित्व सिद्ध भी कर सकते हैं?" जवाब मिला—"हाँ!' मैंने पूछा—"क्योंकर?" जवाब मिला—"मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुमको।"

परमहंसजी की वाणी में कोई वैद्युतिक शक्ति थी, जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी और यही प्रभाव स्वामी विवेकानंद की वाणी और दृष्टि मे भी था। हम कह चुके हैं कि परमहंसजी के परमधाम सिधारने के बाद स्वामी विवेकानद ने संन्यास ले लिया। उनकी माता उच्चाकांक्षिणी स्त्री थीं। उनकी इच्छा थी कि मेरा लड़का वकील हो, अच्छे घर में उसका व्याह हो, और दुनिया के सुख भोगे। उनके संन्यास-धारण के निश्चय का समाचार पाया, तो परमहंसजी की सेवा में उपस्थित हुईं और अनुनय-विनय की कि मेरे बेटे को जोग न दीजिए; पर जिस हृदय ने शाश्वत

प्रेम और आत्मानुभूति के आनंद का स्वाद पा लिया हो, उसे लौकिक सुख-भोग कब अपनी ओर खींच सकते हैं ! परमहंस-जी कहा करते थे कि जो आदमी दूसरों को आध्यात्मिक उपदेश देने की आकांक्षा करे, उसे पहले स्वयं उस रंग में डूब जाना चाहिए। इस आदेश के अनुसार स्वामीजी हिमालय पर चले गए और वह पूरे नौ साल तक तपस्या और चित्त-शुद्धि की साधना में लगे रहे। बिना खाये, बिना सोये, एकदम नग्न और एकदम अकेले सिद्ध-महात्माओं की खोज में ढूंढ़ते और उनके सत्संग से लाभ उठाते रहते थे। कहते हैं कि परमतत्त्व की जिज्ञासा उन्हें तिब्बत खींच ले गई, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और साधन-प्रणाली का समीक्षक वुद्धि से अध्ययन किया। स्वामीजी खुद फरमाते हैं कि मुझे दो-दो तीन-तीन दिन तक खाना न मिलता था। अक्सर ऐसे स्थान पर नंगे बदन सोया हूँ, जहाँ की सर्दी का अंदाजा थर्मामीटर से नहीं लग सकता। कितनी ही बार शेर, बाघ और दूसरे शिकारी जानवरों का सामना हुआ। पर राम के प्यारे को इन बातों का क्या डर !

स्वामी विवेकानंद हिमालय में थे, जब उन्हें प्रेरणा हुई कि अब तुम्हें अपने गुरुदेव के आदेश का पालन करना चाहिए। अतः वह पहाड़ से उतरे और बंगाल, संयुक्तप्रांत, राजपूताना, बम्बई आदि में रेल से और अक्सर पैदल भी भ्रमण करते; किंतु जो जिज्ञासु जन श्रद्धावश उनकी सेवा में उपस्थित होते थे, उन्हें धर्म और नीति तत्त्वों का उपदेश करते थे।

जिसे विपद्ग्रस्त देखते, उसको सांत्वना देते। मद्रास उस समय नास्तिकों और जड़वादियों का केंद्र बन रहा था। अँगरेजी विश्वविद्यालयों से निकले हुए नवयुवक, जो अपने धर्म और समाज-व्यवस्था के ज्ञान से बिलकुल कोरे थे, खुलेआम ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार किया करते थे। स्वामीजी यहाँ अरसे तक टिके रहे और कितने ही होनहार नौजवानों को धर्म-परिवर्तन से रोका तथा जड़वाद के जाल से बचाया। कितनी ही बार लोगों ने उनसे वाद-विवाद किया, उनकी खिल्ली उड़ायी; पर वह अपने वेदांत के रंग में इतना डूबे हुए थे कि उन्हें किसी की हँसी-मजाक की तनिक भी परवाह न थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति नवयुवक-मंडली से बाहर निकल कर कस्तूरी की गंध की तरह चारों ओर फैलने लगी। बड़े-बड़े धनी-मानी लोग भक्त और शिष्य बन गए और उनसे नीति तथा वेदांत-तत्त्व के उपदेश लिये। जस्टिस सुब्रह्मण्यन् ऐयर, महाराजा रामनद (मद्रास) और महाराजा खेतड़ी (राजपूताना) उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

स्वामीजी मद्रास में थे, जब अमरीका में सर्व-धर्म-सम्मेलन के आयोजन का समाचार मिला। वह तुरंत उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गए, और उनसे बड़ा ज्ञानी तथा वक्ता और था ही कौन? भक्त-मंडली की सहायता से आप इस पवित्र यात्रा पर रवाना हो गए। आपकी यात्रा अमरीका के इतिहास की एक अमर घटना है। यह पहला अवसर था कि कोई पश्चिमी जाति दूसरी जातियों के धर्म-विश्वासों की समीक्षा और स्वा-

गत के लिए तैयार हुई हो। रास्ते में स्वामी जी ने चीन और जापान का भ्रमण किया और जापान के सामाजिक जीवन से बहुत प्रभावित हुए। वहाँ से एक पत्र में लिखते हैं—

'आओ, इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो। आओ, मर्द बनो! अपने संकीर्ण विलों से बाहर निकलो और जरा दुनिया की हवा खाओ।'

अमरीका पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि अभी सम्मेलन होने में बहुत देर है। ये दिन उनके बड़े कष्ट में बीते। अकिंचनता की यह दशा थी कि पास में ओढ़ने-बिछाने तक को काफी न था। पर उनकी संतोष-वृत्ति इन सब कष्ट-कठिनाइयों पर विजयी हुई। अंत में बड़ी प्रतीक्षा के बाद नियत तिथि आ पहुँची। दुनिया के विभिन्न धर्मों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे, और यूरोप के बड़े-बड़े पादरी और धर्मशास्त्र के अध्यापक, आचार्य हजारों की संख्या में उपस्थित थे। ऐसे महासम्मेलन में एक अकिंचन असहाय नवयुवक का कौन पुछैया था, जिसकी देह पर सावित कपड़े भी न थे। पहले तो किसी ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया, पर सभापति ने बड़ी उदारता के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और वह समय आ गया कि स्वामीजी श्रीमुख से कुछ कहें। उस समय तक उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न किया था।

एकबारगी ८-१० हजार विद्वानों और समीक्षकों के

सामने खड़े होकर भाषण करना कोई हँसी-खेल न था। मानव-स्वभाववश क्षण-भर स्वामीजी को भी घबराहट रही, पर केवल एक बार तबियत पर जोर डालने की जरूरत थी। स्वामीजी ने ऐसी पांडित्यपूर्ण, ओजस्वी और धाराप्रवाह वक्तृता की कि श्रोतृमंडली मंत्रमुग्ध-सी हो गई। यह असभ्य हिंदू; और ऐसा विद्वत्तापूर्ण भाषण! किसी को विश्वास न होता था। आज भी इस वक्तृता को पढ़ने से भावावेश की अवस्था हो जाती है। वक्तृता क्या है, भगवद्गीता और उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। पश्चिम वालों को आपने पहली बार सुझाया कि धर्म के विषय में निष्पक्ष उदार भाव रखना किसको कहते हैं। और धर्मवालों के विपरीत आपने किसी धर्म की निंदा न की और पश्चिमवालों की जो बहुत दिनों से यह धारणा हो रही थी कि हिंदू तअस्सुब के पुतले है, वह एकदम दूर हो गई। वह भाषण ऐसा ज्ञान-गर्भ और अर्थ-भरा है कि उसका खुलासा करना असंभव है, पर उसका निचोड़ यह है—

'हिंदू धर्म का आधार किसी विशेष सिद्धांत को मानना या कुछ विशेष विधि-विधानों का पालन करना नहीं है। हिंदू का हृदय शब्दों और सिद्धांतों से तृप्ति-लाभ नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसा लोक है, जो हमारी स्थूल दृष्टि से अगोचर है, तो हिंदू उस दुनिया की सैर करना चाहता है; अगर कोई ऐसी सत्ता है, जो भौतिक नहीं है; कोई ऐसी सत्ता है, जो -रूप, दया-रूप और सर्वशक्तिमान है, तो हिंदू उसे अपनी

अंतर्दृष्टि से देखना चाहता है। उसके संशय तभी छिन्न होते है, जब वह इन्हें देख लेता है।'

आपने पाश्चात्यों को पहली बार सुनाया कि विज्ञान के वह सिद्धांत, जिनका उनको गर्व है और जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं, हिंदुओं को अति प्राचीन काल से विदित थे और हिंदू धर्म की नींव उन्हीं पर खड़ी है, और जहाँ अन्य धर्मों का आधार कोई विशेष व्यक्ति या उसके उपदेश हैं, हिंदू धर्म का आधार शाश्वत सनातन सिद्धांत हैं, और यह इस बात का प्रमाण है कि वह कभी न कभी विश्व-धर्म बनेगा। कर्म को केवल कर्त्तव्य समझकर करना, उसमें फल या सुख-दुख की भावना न रखना ऐसी बात थी, जिससे पश्चिमवाले अब तक सर्वथा अपरिचित थे। स्वामीजी के ओजस्वी भाषणों और सच्चाई भरे उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि अमरीका के अखबार बड़ी श्रद्धा और सम्मान के शब्दों में स्वामीजी की बड़ाई छापने लगे। उनकी वाणी में वह दिव्य प्रभाव था कि सुननेवाले आत्मविस्मृत हो जाते।

भक्तों की संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। चारों ओर से जिज्ञासु जन उनके पास पहुँचते और अपने-अपने नगर में पधारने का अनुरोध करते। स्वामीजी को अकसर दिन-दिन भर दौड़ना पड़ता। बड़े-बड़े प्रोफेसरों और विद्वानों ने आकर उनके चरण छुए और उनके उपदेशों को हृदय में ध्यान दिया।

स्वामीजी अमरीका में करीब तीन साल रहे और इस बीच श्रम और शरीर-कष्ट की तनिक भी परवाह न कर अपने

गुरुदेव के आदेश के अनुसार वेदांत का प्रचार करते रहे। इसके बाद आपने इंग्लैंड की यात्रा की। आपकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। अंग्रेजों को, जो नास्तिकता और जड़ पूजा में दुनिया में सबसे आगे बढ़े हुए है, आकृष्ट करने में पहले आपको बहुत कष्ट करना पड़ा; पर आपका अद्भुत अध्यवसाय और प्रबल संकल्प शक्ति अंत में इन सब बाधाओं पर विजयी हुई और आपकी वक्तृताओं का जादू अंग्रेजों पर भी चल गया। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक, जिन्हें खाने के लिए भी प्रयोगशाला के बाहर निकलना कठिन था, आपका भाषण सुनने के लिए घंटों पहले सभा में पहुँच जाते और प्रतीक्षा में बैठे रहते। आपने वहाँ तीन बड़े मारके के भाषण किए और आपकी वाग्मिता तथा विद्वत्ता का सिक्का सबके दिलों पर बैठ गया। सब पर प्रकट हो गया कि जड़वाद में यूरोप चाहे भारत से कितना ही आगे क्यों न हो, पर अध्यात्म और ब्रह्म-ज्ञान का मैदान हिंदुस्तानियों का ही है! आप करीब एक साल तक वहाँ रहे और अनेकानेक सभा-समितियों, कालिजों और क्लब-घरों से आपके पास निमंत्रण आते थे, पर वेदांत के प्रचार का कोई भी अवसर आप हाथ से न जाने देते। आपकी ओजमयी वक्तृताओं का यह प्रभाव हुआ कि विशपों और पादरियों ने गिरजों में वेदांत पर भाषण किए।

एक दिन एक संभ्रांत महिला के मकान पर लंदन के अध्यापकों की सभा होनेवाली थी। श्रीमतीजी शिक्षा-विषय पर बड़ा अधिकार रखती थीं। उनका भाषण सुनने तथा उस

पर बहस की इच्छा से बहुत से विद्वान् एकत्र हुए थे। संयोग-वश श्रीमतीजी की तबीयत कुछ खराब हो गई। स्वामीजी वहाँ विद्यमान थे। लोगों ने प्रार्थना की कि आप ही कुछ फ़रमाएँ। स्वामीजी उठ खड़े हुए और भारत की शिक्षा-प्रणाली पर पांडित्यपूर्ण भाषण किया। उन विद्या-व्यवसायियों को कितना आश्चर्य हुआ, जब स्वामीजी के श्रीमुख से सुना कि भारत में विद्यादान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है और भारतीय गुरु अपने विद्यार्थियों से कुछ लेता नहीं, बल्कि उन्हें अपने घर पर रखता है और उनको विद्यादान के साथ-साथ भोजन-वस्त्र भी देता है।

धीरे-धीरे यहाँ भी स्वामीजी की भक्त-मंडली काफ़ी बड़ी हो गई। बहुत से लोग, जो अपनी रुचि का आध्यात्मिक भोजन न पाकर धर्म से विरक्त हो रहे थे, वेदांत पर लट्टू हो गए, और स्वामीजी में उनकी इतनी श्रद्धा हो गई कि यहाँ से जब वह चले, तो उनके साथ कई अंग्रेज शिष्य थे, जिनमें कुमारी नोवल भी थीं, जो बाद को भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामी जी ने अंग्रेजों के रहन-सहन और चरित्र-स्वभाव को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा-समझा। इस अनुभव की चर्चा करते हुए एक भाषण में आपने कहा कि यह क्षत्रियों और वीर पुरुषों की जाति है।

१६ सितम्बर १८९६ ई० को स्वामीजी कई अंग्रेज चेलों के साथ प्रिय स्वदेश को रवाना हुए। भारत के छोटे-बड़े सब लोग आपकी उज्ज्वल विरुदावली को सुन-सुनकर

आपके दर्शन के लिए उत्कंठित हो रहे थे। आपके स्वागत और अभ्यर्थना के लिए नगर-नगर में कमेटियाँ बनने लगीं। स्वामीजी जब जहाज से कोलम्बो में उतरे, तो जनसाधारण ने जिस उत्साह और उल्लास से आपका स्वागत किया, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कोलम्बो से अलमोड़ा तक जिस-जिस नगर में आप पधारे, लोगों ने आपकी राह में आँखें बिछा दीं। अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े सबके हृदय में आपके लिए एक-सा आदर-सम्मान था। यूरोप में बड़े विजेताओं की जो अभ्यर्थना हो सकती है, उससे कई गुना अधिक भारत में स्वामीजी की हुई। आपके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ जमा हो जाती थी और लोग आपको एक नजर देखने के लिए मंजिलें तै करके आते थे। क्योंकि भारतवर्ष लाख गया-बीता है, फिर भी एक सच्चे संत और महात्मा का जैसा कुछ आदर-सम्मान भारतवासी कर सकते हैं और किसी देश में संभव नहीं। यहाँ मन को जीतने और हृदयों को वश में करनेवाले विजेता का; देश को जीतने और मानव-प्राणियों का रक्त बहानेवाले विजेता से कहीं अधिक आदर-सम्मान होता है।

हर शहर में जनसाधारण की ओर से आपके कार्यों की बड़ाई और कृतज्ञता-प्रकाश करनेवाले मानपत्र दिये गए। कुछ बड़े शहरों में तो पंद्रह-पंद्रह बीस-बीस मानपत्र तक दिये गए और आपने उनके उत्तर में देशवासियों को देशभक्ति के उत्साह तथा अध्यात्म-तत्त्व से भरी हुई वक्तृताएँ सुनायीं। मद्रास में आपके स्वागत के लिए १७ आलीशान फाटक बनाए गए।

महाराज रामनद ने, जिनकी सहायता से स्वामीजी अमरीका गये थे, इस समय बड़े उत्साह और उदारता के साथ आपके स्वागत का आयोजन किया। मद्रास के विभिन्न स्थानों में घूमने और अपने अमृत उपदेशों से लोगों को तृप्त, आह्लादित करते हुए २८ फरवरी को स्वामीजी कलकत्ते पधारे। यहाँ आपके स्वागत-अभिनंदन के लिए लोग पहले ही अधीर हो रहे थे। जिस समय आपको मानपत्र दिया गया, सभा में पाँच हजार से अधिक लोग उपस्थित थे। राजा विनयकृष्ण बहादुर ने स्वयं मानपत्र पढ़ा, जिसमें स्वामीजी के भारत का गौरव बढ़ानेवाले कार्यों का बखान किया गया था।

कलकत्ता में स्वामीजी ने एक अति पांडित्यपूर्ण भाषण किया। पर अध्यापन और उपदेश में अत्यधिक श्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जलवायु-परिवर्तन के लिए आपको दार्जिलिंग जाना पड़ा। वहाँ से अल्मोड़ा गये। पर स्वामीजी ने तो वेदांत के प्रचार का व्रत ले रखा था, उनको बेकारी में कब चैन आ सकता था? ज्यों ही तबियत ज़रा सँभली, स्यालकोट पधारे और वहाँ से लाहौर वालों की भक्ति ने अपने यहाँ खींच बुलाया। इन दोनों स्थानों में आपका बड़े उत्साह से स्वागत-सत्कार हुआ और आपने अपनी अमृत-वाणी से श्रोताओं के अंतःकरणों में ज्ञान की ज्योति जगा दी। लाहौर से आप काश्मीर गये और वहाँ से राजपूताने का भ्रमण करते हुए कलकत्ता लौट आये। इस बीच आपने दो मठ स्थापित कर दिये थे। इसके कुछ दिन बाद रामकृष्ण मिशन

की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोकसेवा है और जिसकी शाखाएँ भारत के हर भाग में विद्यमान हैं तथा जनता का अमित उपकार कर रही हैं।

१८९७ ई० का साल सारे हिंदुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे? आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था—

'साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-सन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराए। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मंदिर है, और इसी मंदिर में उसकी आराधना करनी होगी।'

फलतः आपने बड़ी सरगर्मी से खैरातखाने खोलना आरंभ किया। स्वामी रामकृष्ण ने देश-सेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मंडली बना दी। यह सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गए। मुर्शिदाबाद, ढाका, कलकत्ता, मद्रास आदि में सेवाश्रम खोले गए। वेदांत के प्रचार के लिए जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किए गए। कई अनाथालय भी खुले। और यह सब स्वामीजी के सदुद्योग का सुफल था। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा था, फिर भी वह स्वयं घर-घर घूमते और पीड़ितों को आश्वासन तथा आवश्यक सहायता देते-दिलाते। प्लेग-पीड़ितों की सहायता

करना, जिनसे डाक्टर लोग भी भागते थे, कुछ इन्हीं देशभक्तों का काम था।

उधर इंग्लैंड और अमरीका में भी वह पौधा बढ़ रहा था, जिसका बीज स्वामीजी ने बोया था। दो संन्यासी अमरीका में और एक इंग्लैंड में वेदांत-प्रचार में लगे हुए थे, और प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी।

स्वामीजी का स्वास्थ्य जब बहुत अधिक बिगड़ गया, तो आपने लाचार हो, इंग्लैंड की दूसरी यात्रा की और वहाँ कुछ दिन ठहरकर अमरीका चले गए। वहाँ आपका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। दो बरस पहले जिन लोगों ने आपके श्रीमुख से वेदांत दर्शन पर जोरदार वक्तृताएँ सुनी थीं, वह अब पक्के वेदांती हो गए थे। स्वामीजी के दर्शन से उनके हर्ष की सीमा न रही। वहाँ का जलवायु स्वामीजी के लिए लाभजनक सिद्ध हुआ और कठिन श्रम करने पर भी कुछ दिन में आप फिर स्वस्थ हो गए।

धीरे-धीरे हिंदू-दर्शन के प्रेमियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि स्वामीजी दिन-रात श्रम करके भी उनकी पिपासा तृप्त न कर सकते थे। अमरीका जैसे व्यापारी देश में एक हिंदू संन्यासी का भाषण सुनने के लिए दो-दो हजार आदमियों का जमा हो जाना कोई साधारण बात नहीं है। अकेले सानफ्रांसिस्को नगर में आपने हिंदू दर्शन पर पूरे पचास व्याख्यान दिये। श्रोताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती गई और अध्यात्म-तत्त्व के प्रेमियों की तृप्ति केवल दार्शनिक व्याख्यान सुनने से न होती

थी। साधन और योगाभ्यास की आकांक्षा भी उनके हृदयों में जगी। स्वामीजी ने उनकी सहायता से सानफ्रांसिस्को में 'वेदांत सोसाइटी' और 'शांति-आश्रम' स्थापित किया और दोनों पौधे आज तक हरे-भरे हैं। शांति-आश्रम नगर के कोलाहल से दूर एक परम रमणीय स्थान पर स्थित है और उसका घेरा लगभग २०० एकड़ है। यह आश्रम एक उदार धर्मानुरागिनी महिला की वदान्यता का स्मारक है।

स्वामीजी न्यूयार्क में थे कि पेरिस में विभिन्न धर्मों का सम्मेलन करने की आयोजना हुई और आपको भी निमंत्रण मिला। उस समय तक आपने फ्रांसीसी भाषा में कभी भाषण न किया था। यह निमंत्रण पाते ही उसके अभ्यास में जुट गए और आत्मबल से दो महीने में ही उस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि देखनेवाले दंग हो जाते। पेरिस में आपने हिंदू-दर्शन पर दो व्याख्यान दिये, पर चूँकि यह केवल निबंध पढ़नेवालों का सम्मेलन था, और उसका उद्देश्य सत्य की खोज नहीं, किंतु पेरिस प्रदर्शनी की शोभा बढ़ाना था, इसलिए फ्रांस में स्वामीजी को सफलता न हुई।

अंत में अत्यधिक श्रम के कारण स्वामीजी का शरीर बिलकुल गिर गया। यों ही बहुत कमजोर हो रहे थे, पेरिस-सम्मेलन की तैयारी ने और भी कमजोर बना दिया। अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा करते हुए जब आप स्वदेश लौटे, तो देह में हड्डियाँ भर रह गई थीं और इतनी शक्ति न थी कि सार्वजनिक सभाओं में भाषण कर सकें। डाक्टरों की कड़ी

ताकीद थी कि आप कम-से-कम दो साल तक पूर्ण विश्राम करें। पर जो हृदय अपने देशवासियों के दुःख देखकर गला जाता हो, और जिसमें उनको भलाई की धुन समायी हो, जिसमें यह लालसा हो कि आज की धन और बल से हीन हिंदू जाति फिर पूर्वकाल की सबल, समृद्ध और आत्मशालिनी आर्य जाति बने, उससे यह कब हो सकता था कि एक क्षण के लिए भी आराम कर सके। कलकत्ते पहुँचते ही, कुछ ही दिन के बाद आप आसाम की ओर रवाना हुए और अनेक सभाओं में वेदांत का प्रचार किया। कुछ तो स्वास्थ्य पहले से ही बिगड़ा हुआ था, कुछ उधर का जलवायु भी प्रतिकूल सिद्ध हुआ। आप फिर कलकत्ते लौटे। दो महीने तक हालत बहुत नाजुक रही। फिर बिलकुल तंदुरुस्त हो गए।

इन दिनों आप अक्सर कहा करते थे कि अब दुनिया में मेरा काम पूरा हो चुका। पर चूंकि उस काम को जारी रखने के लिए जितेंद्रिय, निःस्वार्थ और आत्मबल-सम्पन्न संन्यासियों की अत्यत आवश्यकता थी, इसलिए अपने बहुमूल्य जीवन के शेष मास आपने अपनी शिष्य-मडली की शिक्षा और उपदेश में लगाए। आपका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ाना नहीं है, किंतु मनुष्य को मनुष्य बनाना है। इन दिनों आप अक्सर समाधि की अवस्था में रहा करते थे और अपने भक्तों से कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय बहुत समीप है। ४ जुलाई १९०२ को यकायक आप समाधिस्थ हो गए। इस समय आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। सवेरे दो

घंटे समाधि में रहे थे, दोपहर को शिष्यों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाया था और तीसरे पहर दो घंटे तक वेदोपदेश करते रहे। इसके बाद टहलने को निकले। शाम को लौटे तो थोड़ी देर माला जपने के बाद फिर समाधिस्थ हो गए और इसी रात को पंचभौतिक शरीर का त्याग कर परमधाम को सिधार गए। यह दुर्बल पार्थिव देह आत्म-साक्षात्कार की दिव्यानुभूति को न सह सकी।

पहले लोगों ने इस अवस्था को समाधि मात्र समझा और एक संन्यासी ने आपके कान में परमहंसजी का नाम सुनाया; पर जब इसका कुछ असर न हुआ, तब लोगों को विश्वास हो गया कि आप ब्रह्मलीन हो गए। आपके चेहरे पर तेज था और अधखुली आँखें आत्मज्योति से प्रकाशित थीं।

इस हृदय-विदारक समाचार को सुनते ही सारे देश में कोलाहल मच गया और दूर-दूर से लोग आपके अंतिम दर्शन के लिए कलकत्ते पहुँचे। अंत में दूसरे दिन दो बजे के समय गंगातट पर आपकी दाहक्रिया हुई। परमहंसजी की भविष्य-वाणी थी कि मेरे इस शिष्य के जीवन का उद्देश्य जब पूरा हो जायगा, तब वह भरी जवानी में इस दुनिया से चल देगा। वह अक्षरशः सत्य निकली।

स्वामीजी का रूप बड़ा सुंदर और भव्य था। शरीर सबल और सुदृढ़ था। वजन दो मन से ऊपर था। दृष्टि में बिजली का असर था और मुखमंडल पर आत्मतेज का आलोक। आपकी दयालुता की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। कड़ी

बात शायद जबान से एक बार भी न निकली हो। विश्वविख्यात और विश्ववंद्य होते हुए भी स्वभाव अति सरल और व्यवहार अति विनम्र था। उनका पांडित्य अगाध, असीम था। अंग्रेजी के पूर्ण पंडित और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। संस्कृत-साहित्य और दर्शन के पारगामी विद्वान् और जर्मन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कठोर श्रम तो आपका स्वभाव ही था। केवल चार घंटे सोते थे। चार बजे तड़के उठकर जप-ध्यान में लग जाते। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। भोर में तप-जप से निवृत्त होकर मैदान में निकल जाते और प्रकृति-सुषमा का आनन्द लेते। पालतू पशुओं को प्यार करते और उनके साथ खेलते। अपने गुरुदेव की अंत समय तक पूजा करते रहे। स्वर में बड़ा माधुर्य और प्रभाव था।

श्री रामकृष्ण परमहंस कभी-कभी आपसे भजन गाने की फरमाइश किया करते थे और उससे इतने प्रभावित होते कि आत्मविस्मृत-से हो जाते। मीराबाई और तानसेन के प्रेमभरे गीत आपको बहुत प्रिय थे। वाणी में वह प्रभाव था कि वक्तृताएँ श्रोताओं के हृदयों पर पत्थर की लकीर बन जातीं। कहने का ढंग और भाषा बहुत सरल होती थी; पर उन सीधे-सादे शब्दों में कुछ ऐसा आध्यात्मिक भाव भरा होता था कि सुनने-वाले तल्लीन हो जाते थे। आप सच्चे देशभक्त थे, राष्ट्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने की बात आपसे अधिक शायद ही और किसी के लिए सही हो सकती हो। देशभक्ति

का ही उत्साह आपको अमरीका ले गया था। अपने विपद्ग्रस्त राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य तथा दर्शन का गौरव दूसरे राष्ट्रों की दृष्टि में स्थापित करना, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देना, अपने पीड़ित देशवासियों के लिए जगह-जगह खैरातखाने खुलवाना—यह सब आपके सच्चे देशप्रेम के स्मारक हैं। आप केवल महर्षि ही न थे, ऐसे देशभक्त भी थे, जिसने देश पर अपने आपको मिटा दिया हो। एक भाषण में फरमाते हैं—

'मेरे नौजवान दोस्तो! 'बलवान बनो। तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है! तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे, तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था; किंतु अर्जुन को दिया गया था, जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था। कृष्ण भगवान् के उपदेश और अलौकिक शक्ति को तुम तभी समझ सकोगे, जब तुम्हारी रगों में खून कुछ और तेजी से दौड़ेगा।'

एक दूसरे व्याख्यान में उपदेश देते हैं—

'यह समय आनंद में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। अब हमारे लिए नरक बनाने की आवश्यकता नहीं। इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गए हैं। अब हमारे देश और जाति

को जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वह है—लोहे के हाथ-पैर और फ़ौलाद के सारे पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्प शक्ति जिसे दुनिया की कोई वस्तु रोक नहीं सकती; जो प्रकृति में रहस्यों की हद तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती, चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े। महत्ता का मूल मंत्र विश्वास है—दृढ़ और अटल विश्वास, अपने आप और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर पर विश्वास।' स्वामीजी को अपने ऊपर जबरदस्त विश्वास था। स्वयं उन्हीं का कथन है—

'गुरुदेव के गले में एक फोड़ा निकल आया था। धीरे-धीरे उसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कलकत्ते के सुप्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेंद्रलाल सरकार बुलाए गए। उन्होंने परमहंसजी की हालत देखकर निराशा जतायी और चलते समय शिष्यों से कहा कि यह रोग संक्रामक है, इसलिए इससे बचते रहो और गुरुजी के पास बहुत देर तक न ठहरा करो। यह सुनकर शिष्यों के होश उड़ गए और आपस में कानाफूसी होने लगी। मैं उस समय कहीं गया हुआ था। लौटा तो अपने गुरुभाइयों को अति भयभीत पाया। कारण मालूम होते ही मैं सीधे अपने गुरुदेव के कमरे में चला गया। वह प्याली, जिसमें उनके गले से निकला हुआ मवाद रखा हुआ था, उठा ली, और सब शिष्यों के सामने बड़े इतमीनान से पी गया और बोला, देखो, मृत्यु क्योंकर मेरे पास आती है?'

स्वामीजी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे, पर

उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किए जाते थे, वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही सम्बन्ध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बंधन—यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ है, जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है, और सभी शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था—अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। यह लोग हिंदू जाति की जड़ हैं और शिक्षित-वर्ग उसकी शाखाएँ! केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो, तो जड़ को सींचना होगा। इसके सिवा इस विषय में आप कठोर शब्दो के व्यवहार को अति अनुचित समझते थे, जिनका फल केवल यही होता है कि जिनका सुधार करना है, वही लोग चिढ़कर ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं, और सुधार का मतलब केवल यही रह जाता है कि निरर्थक विवादों और दिल दुखानेवाली आलोचनाओं से पन्ने-के-पन्ने काले किए जायँ। इसी से तो समाज-सुधार का यत्न आरंभ हुए सौ साल से ऊपर हो चुका और अभी तक कोई नतीजा न निकला।

स्वामीजी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी हैं। पहली यह कि देश और जाति का प्रेम उसका स्वभाव बन गया हो, हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें बसती हो। दूसरी यह कि अपने प्रस्तावित सुधारों पर

उसको दृढ़ विश्वास हो। तीसरी यह कि वह स्थिरचित्त और दृढ़ निश्चय हो। सुधार के परदे में अपना कोई काम बनाने की दृष्टि न रखता हो और अपने सिद्धान्तों के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट और हानि उठाने को तैयार हो, यहाँ तक कि मृत्यु का भय उसे अपने संकल्प से न डिगा सके। कहते थे कि ये तीनों योग्यताएँ जब तक हममें पूर्ण मात्रा में उत्पन्न न हो जायँ, तब तक समाज-सुधार के लिए हमारा यत्न करना बिलकुल बेकार है; पर हमारे सुधारकों में कितने हैं, जिनमें ये योग्यताएँ विद्यमान हों। फरमाते हैं—

'क्या भारत में कभी सुधारकों की कमी रही है ? क्या तुम कभी भारत का इतिहास पढ़ते हो ? रामानुज कौन थे ? शंकर कौन थे ? नानक कौन थे ? चैतन्य कौन थे ? दादू कौन थे ? क्या रामानुज नीची जातियों की ओर से लापरवाह थे ? क्या वह आजीवन इस बात का यत्न नहीं करते रहे कि चमारों को भी अपने संप्रदाय में सम्मिलित कर लें ? क्या उन्होंने मुसलमानों को अपनी मंडली में मिलाने की कोशिश नहीं की थी ? क्या गुरू नानक ने हिंदू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था ? इन सब महापुरुषों ने सुधार के लिए यत्न किए और उनका नाम अभी तक कायम है। अंतर इतना है कि वह लोग कटुवादी न थे। उनके मुँह से जब निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसी को गाली नहीं देते थे, किसी की निंदा नहीं करते थे। निःसंदेह सामाजिक जीवन के सुधार के इन गुरुतर और

प्रश्नों की हमने उपेक्षा की है और प्राचीनों ने जो मार्ग स्वीकार किया था, उससे विमुख हो गए हैं।

सामाजिक सुधार के समस्त प्रचलित प्रश्नों में से स्वामीजी केवल एक के विषय में सुधारकों से सहमत थे। बाल-विवाह और जनसाधारण की गृहस्थ-जीवन की अत्यधिक प्रवृत्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखते थे, अतः रामकृष्ण मिशन की ओर से जो विद्यालय स्थापित किए गए, उनमें पढ़नेवालों के माँ-बाप को यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ती है कि बेटे का ब्याह १८ साल के पहले न करेंगे। वह ब्रह्मचर्य के जबरदस्त समर्थक थे और भारतवर्ष की वर्तमान भीरुता और पतन को ब्रह्मचर्यनाश का ही परिणाम समझते थे। आजकल के हिंदुओं के बारे में अक्सर वह तिरस्कार के स्वर में कहा करते थे कि यहाँ भिखमंगा भी यह आकांक्षा रखता है कि ब्याह कर लूँ और देश में दस-बारह गुलाम और पैदा कर दूँ।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आप कट्टर विरोधी थे। आपका मत था कि 'शिक्षा जानकारी का नाम नहीं है, जो हमारे दिमाग में ठूँस दी जाती है; किन्तु शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरुषार्थ तथा मनोबल का विकास है... अतः हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारी सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का प्रबंध हमारे हाथ में हो और उसका संचालन यथासंभव हमारी प्राचीन रीति-नीति और प्राचीन प्रणाली पर किया जाय।'

स्वामीजी की शिक्षा-योजना बहुत विस्तृत थी। एक हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आपका विचार था, पर अनेक बाधाओं के कारण आप उसे कार्यान्वित न कर सके। हाँ, उसका सूत्रपात अवश्य कर गए।

धर्मगत रागद्वेष का तो आपके स्वाभाव में कहीं लेश भी न था। दूसरे धर्मो की निन्दा और अपमान को बहुत अनुचित मानते थे। ईसाई धर्म, इसलाम, बौद्ध धर्म सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक भाषण में हजरत व ईसा को ईश्वर का अवतार माना था। अपने देशवासियों को सदा इस बात की याद दिलाते रहते थे कि आत्मविश्वास ही महत्व का मूलमंत्र है। हमें अपने ऊपर बिलकुल भरोसा नहीं। अपने को छोटा और नीचा समझते हैं, इसी कारण दीन-हीन बने हुए हैं। हर अंग्रेज समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, साहसी हूँ और जो चाहूँ, कर सकता हूँ। हम हिंदुस्तानी अपनी असमर्थता के इस हद तक कायल हैं कि मर्दानगी का ख्याल भी हमारे दिलों में नहीं पैदा होता है। जब कोई कहता है कि तुम्हारे पुरखे निर्बुद्धि थे, वह ग़लत रास्ते पर चले और इसी कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे, तो हमको जितनी लज्जा होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता, और हमारी हिम्मत और भी टूट जाती है।

स्वामीजी इस तत्त्व को खूब समझते थे और किसी दूषित प्रथा के लिए अपने पूर्व-पुरुषों को कभी दोष नहीं देते थे। कहते थे कि हरएक प्रथा अपने समय में उपयोगी थी

और आज उसकी निंदा करना निरर्थक है। आज हम इस बात पर जोर दे रहे हैं कि साधु-समुदाय के अस्तित्व से हमारे देश को कोई लाभ नहीं, और हमारी दान-धारा को उधर से हटकर शिक्षा-संस्थाओं और समाज-सुधार के कार्यों की ओर बहना चाहिए। स्वामीजी इसे स्वार्थपरता मानते थे। और है भी ऐसा ही। साधु कितना ही अपढ़ हो, अपने धर्म और शास्त्रों से कितना ही अनभिज्ञ हो, फिर भी हमारे अशिक्षित देहाती भाइयों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति और मनःसमाधान के लिए उसके पास काफी विद्या-ज्ञान होता है। उसकी मोटी-मोटी धर्म-सम्बन्धी बातें कितने ही दिलों में जगह पातीं और कितनों के लिए कल्याण का साधन बनती हैं। अब अगर इनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिसमें उनका काम जारी रहे। पर हम इस दिशा में तो तनिक भी नहीं सोचते और जो रहा-सहा साधन है, उसे भी तोड़-फोड़कर बराबर किया चाहते हैं।

सारांश, स्वामीजी अपनी जाति को आचार-व्यवहार, रीति-नीति, साहित्य और दर्शन, सामाजिक जीवन, उसके पूर्वकाल के महापुरुष और पुनीत भारत भूमि सबको श्रद्धेय और सम्मान्य मानते थे। आपके एक भाषण का निम्नलिखित अंश सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है—

'प्यारे देशवासियो! पुनीत आर्यावर्त्त के बसनेवालो! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता

प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर-पुरुषों का अधिकार है ? हे भारतनिवासी भाइयो ! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयंती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषो ! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। मैं भारत का रहनेवाला हूँ। हर-एक भारतवासी, चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय सब मेरे भाई हैं। भारतीय मेरा भाई है। भारत मेरा जीवन, मेरा प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे बचपन का हिंडोला, मेरे यौवन का विलास-भवन और बुढ़ापे का बैकुंठ है। हे शंकर ! हे धरती माता ! मुझे मर्द बना। मेरी दुर्बलता दूर कर और मेरी भीरुता का नाश कर !'

स्वामीजी के उपदेशों का सार यह है कि हम स्वजाति और स्वदेश के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करें, आत्मबल प्राप्त करें, बलवान् और वीर बनें। नीची जातियों को उभारें और उन्हें अपना भाई समझें। जब तक ९० प्रतिशत भारतवासी अपने को दीन-हीन समझते रहेंगे, भारत में एका और मेल का होना सर्वथा असंभव है। हम धर्म में आस्था रखें, पर संन्यासी-विरागी न बनें। हाँ, हम अपने एका के लिए सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहें। हम एक पैसा कमाएँ, पर उसे अपने सुख-विलास में खर्च न करें, राष्ट्रहित

में लगा दें। हिंदू तत्वज्ञान के कर्म-सम्बन्धी अंग का अनुसरण करें। शम, दम और तप, त्याग उन लोगों के लिए छोड़ दें, जिन्हें भगवान् ने इस उच्च पद पर पहुँचने की क्षमता प्रदान की है।

स्वामीजी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका धर्म है। उनकी शिक्षा में दुर्बलता और अनुनय-विनय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। उनका वेदांत मनुष्य को सांसारिक दुख-क्लेश से बचाने, जीवन-संग्राम में वीर की भाँति जुटने और मानसिक आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति की समान रूप से शिक्षा देता है।

●

राजा मानसिंह

'दरबारे-अकबरी' के रचयिता ने, जिसकी क़लम में जादू था, क्या खूब कहा है—'इस उच्च-कुल संभूत राजा का चित्र दरबारे-अकबरी के चित्र-संग्रह में सोने के पानी से खींचा जाना चाहिए।' निस्संदेह ! और न केवल मानसिंह का, किंतु उसके कीर्तिशाली पिता राजा भगवानदास और सुविख्यात दादा राजा भारामल के चित्र भी इसी सम्मान और शृंगार के अधिकारी हैं। राजा भारामल वह पहला बुद्धिमान और दूर तक देखने-सोचनेवाला राजा था, जिसने हजारों साल के धार्मिक संस्कारों को देश के सामयिक हित पर बलिदान करके मुसलमानों से नाता जोड़ा और सन् ९६९ हिज्र में अपनी रूप-गुण-शीला कन्या को अकबर की पटरानी बनाया। आमेर के कछवाहा वंश को विचार-स्वातंत्र्य और धर्मगत उदारता के क्षेत्र में अगुआ बनने का गौरव प्राप्त है। और जब तक जमाने की निगाहों में इन पुनीत गुणों का आदर रहेगा, इस घराने के नाम पर सम्मान की श्रद्धांजलि अर्पित की जाती रहेगी।

मानसिंह आमेर में पैदा हुआ और उसका बचपन उसी देश के जोशीले, युद्धप्रिय निवासियों में बीता, जिनसे उसने वीरता और साहस के पाठ पढ़े। पर जब जवानी ने हृदय में उत्साह और उत्साह ने उमंग पैदा की, तो अकबर के दरबार

की तरफ़ रुख किया, जो उस ज़माने में मान-प्रतिष्ठा, पद और अधिकार की खान समझा जाता था। भगवानदास की सच्ची शुभचिंतना और उत्सर्गमयी सहायताओं ने शाही दरबार में उसे मान-प्रतिष्ठा के आसन पर आसीन कर रखा था। उसके होनहार तेजस्वी बेटे की जितनी आवभगत होनी चाहिए थी, उससे अधिक हुई। अकबर ने उसके साथ पितृ-सुलभ स्नेह दिखाया और सन् १५७२ ई० में जब गुजरात पर चढ़ाई की, तो नवयुवक राजकुमार को हमराही का सम्मान प्रदान किया। इस मुहिम में उसने वह बढ़-बढ़कर हाथ मारे कि अकबर की नजरों में जँच गया। अगर कुछ कोरकसर थी तो वह उस वक्त पूरी हो गई, जब खान आजम अहमदाबाद में घिर गया और अकबर ने आगरे से कूच करके दो महीने की राह ७ दिन में तै की। नौजवान राजकुमार इस धावे में भी साथ रहा। यह मानो उसकी शिक्षा और परीक्षा के दिन थे।

अब वह समय आया कि बड़े-बड़े विश्वास और दायित्व के काम उसे सौंपे जायँ। दैवयोग से इसका अवसर भी जल्दी ही हाथ आया। वह शोलापुर की मुहिम मारे चला आ रहा था कि रास्ते में कुंभलमेर स्थान में महाराणा प्रताप से भेंट हुई। राणा कछवाहा कुल पर उसके विचार-स्वातंत्र्य के कारण तना बैठा था कि उसने राजपूतों के माथे पर कलंक का टीका लगाया। मानसिंह पर चुभते हुए व्यंग्यबाण छोड़े, जो उसके कलेजे के पार हो गए। इस घाव के लिए बदला लेने के सिवाय और कोई कारगर मरहम न दिखाई दिया।

मानसिंह ने आगरे पहुँचकर अकबर को सारी कथा सुना दी। अकबर ऊँची हिम्मत का बादशाह था, क्रोध में आ गया। राणा पर चढ़ाई की तैयारी की। शाहज़ादा सलीम सेनापति बनाए गए और मानसिंह उनका मंत्री नियुक्त हुआ। शाही फ़ौज जंगलों-पहाड़ों को पार करती राणा के राज्य में प्रविष्ट हुई। राणा, उस पर मर मिटने को तैयार २२ हज़ार राजपूतों के साथ, हल्दीघाटी के मैदान में अड़ा खड़ा था। यहाँ खूब घमासान लड़ाई हुई, रक्त की नदियाँ बह गईं। पहाड़ों के पत्थर सिंगरफ बन गए। मेवाड़ के वीर मानसिंह के खून के प्यासे हो रहे थे। ऐसे जान तोड़-तोड़कर हमले करते थे कि अगर सद्दे सिकंदर* भी होती, तो शायद अपनी जगह पर क़ायम न रह सकती। मगर मानसिंह भी शेर का दिल रखता था। उस पर जवानी का जोश। हौसला कहता था कि सारी सेना की निगाहें तुम पर हैं, दिखा दे कि राजपूत अपनी तलवार का ऐसा धनी होता है। अंत को अकबरी प्रताप की विजय हुई। राणा के साथियों के पाँव उखड़ गए। चौदह हज़ार खेत रहे। केवल आठ हज़ार अपनी जानें सलामत ले गए। कहाँ हैं स्पार्टा की सराहना में पन्ने के पन्ने काले करनेवाले! आयें और देखें कि भारत के योद्धा कैसी निर्भयता के साथ जान देते हैं।

राणा लड़ाई तो हार गया, पर हिम्मत न हारा। उसकी

---

* सद्दे = दीवार—कहा जाता है कि सिकंदर ने बर्बर जातियों के प्रतिरोध के लिए काँसे की दीवार बनवायी थी।

हेकड़ी उसके गले का हार बनी रही। जब कभी मैदान खाली पाता, मौत से खेलनेवाले अपने साथियों को लेकर किले से निकल पड़ता और आसपास में आफ़त मचा देता। अकबर ने कुछ दिनों तक तरह दी, पर जब राणा की ज्यादतियाँ हद से आगे निकल गईं, तो सन् १५७६ में उस पर फिर चढ़ाई की तैयारी की। खुद तो अजमेर में आकर ठहरा और मानसिंह को पुत्र की पदवी के साथ इस चढ़ाई का सेनापतित्व दिया। राजा हवा के घोड़े पर सवार होकर दम में गोगंडा जा पहुँचे, जहाँ राणा अपने दिन काट रहा था।

राणा ने भी अबकी मरने-मारने की ठान ली। ज्यों ही दोनों सेनाएँ आमने-सामने हुईं और डंके पर चोट पड़ी, दस्त-बदस्त लड़ाई होने लगी। राणा के आन-भरे राजपूत ऐसी बेजिगरी से झपटे कि शाही फ़ौज के दोनों बाजुओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। पर मानसिंह जो सेना के मध्य भाग में था, अपने स्थान पर अटल रहा। अचानक उसके तेवर बदले, शेर की तरह गरजा, अपने साथियों को ललकारा और बिजली की तरह राणा की सेना पर टूट पड़ा। राणा क्रोध में भरा ताल ठोककर सामने आया और दोनों रणबाँकुरे गुथ गए। ऊपर-तले कई बार हुए और राणा घायल होकर पीछे हटा। उसके हटते ही उसकी सेना में खलबली पड़ गई। उसके पाँव उखड़े थे कि मानसिंह की प्रलयंकरी तलवार ने हज़ारों को धराशायी बना दिया। उनकी बहादुरी ने आज वह करतब दिखाए कि

अच्छे-अच्छे प्रौढ़ मुगल योद्धा, जो बाबरी तलवार की काट देखे हुए थे, दाँतों तले उँगली दबाकर रह गए।

इस विजय ने कुँवर मानसिंह के सेनापतित्व की धूम मचा दी और सन् १५८१ ई० में उसकी तलवार ने वह तड़प दिखायी कि 'हिंदी लोहे ने विलायती के जौहर मिटा दिए।' बंगाल में कुछ सरदारों ने सिर उठाया और अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम को (काबुल से) चढ़ा लाने की युक्ति लड़ाना शुरू किया। मिर्ज़ा खुशी से फूला न समाया। अपनी सेना लेकर पंजाब की ओर बढ़ा। इधर से राणा मानसिंह सेनापति बनकर उसके मुकाबले को रवाना हुआ। मिर्ज़ा का दूधभाई शादमान, जो बड़ा वीर और साहसी पुरुष था, अटक का घेरा डाले हुए पड़ा था। नगाड़े की घन-गरज ध्वनि कान में पड़ी, तो चौंका। पर अब क्या हो सकता था, मानसिंह सिर पर आ पहुँचा था। उसकी सेना पलक मारते तितर-बितर हो गई और शादमान धूलि में लोटता हुआ दिखाई दिया।

मिर्ज़ा ने यह खबर सुनी तो बड़ा क्रुद्ध हुआ। तुरन्त लड़ने को तैयार हो गया और अकबर को बंगाल के झमेलों में उलझा हुआ समझकर लाहौर तक दर्राता हुआ घुस आया। पर ज्यों ही सुना कि अकबर धावा मारे इधर चला आ रहा है, उसके होश उड़ गए। पहाड़ों को फाँदता, नदियों को पार करता काबुल को भागा। मानसिंह भी शाही आदेश के अनुसार पेशावर पर जा पड़ा और काबुल की ओर बढ़ना

शुरू किया। अकबर भी अपनी प्रतापी सेना लिये उसके पीछे-पीछे चला।

मानसिंह निश्शंक घुसता हुआ छोटे काबुल तक जा पहुँचा और वहाँ ठहरा कि शत्रु मैदान में आये, तो लंबी मंजिलों की थकान दूर हो। मिर्जा हकीम भी बड़े आगा-पीछा के बाद सेना लिये एक घाटी से निकला और उभय-पक्ष में संग्राम होने लगा। दोनों ओर के रणबाँकुरे खूब दिल तोड़कर लड़े। यद्यपि मुकाबला बहुत कड़ा था और राजपूतों को ऐसी ऊबड़-खाबड़ जमीन पर लड़ने का अभ्यास न था, पर मानसिंह ने सिपाहियों को ऐसा उभारा और ऐसे मौके-मौके से कुमक पहुँचायी कि अंत में मैदान मार लिया। दुश्मन भेड़ों की तरह भागे। राजपूत के अरमान दिल के दिल ही में रह गए। पर दूसरे दिन सूरज भी न निकलने पाया था कि मिर्जा का मामू फ़रीदू फिर फौज लेकर आ पहुँचा। मानसिंह ने भी अपनी सेना उसके सामने ले जाकर खड़ी की और चटपट खून की प्यासी तलवारें म्यानों से निकलीं, तोपों ने गोले दागे और रेलपेल होने लगी। दो घंटे तक तलवारें कड़कती रहीं। अंत को शत्रु पीछे हटा और मानसिंह विजय-दुंदुभी बजाता हुआ क़ाबुल में दाखिल हुआ।

पर धन्य है अकबर की दयालुता और उदारता को, कि जो देश इतने रक्तपात के बाद जीता गया, उस पर कब्जा न जमाया; बल्कि मिर्जा का अपराध क्षमा कर दिया और उसका देश उसको लौटा दिया। पेशावर और सीमांत-प्रदेश का

शासन-भार मानसिंह को सौंपा और राजा ने बड़ी बुद्धिमानी तथा गंभीरता से इस कर्त्तव्य का पालन किया। उस देश का चप्पा-चप्पा उपद्रव-उत्पात का अखाड़ा हो रहा था। मानसिंह ने अपने नीति-कौशल और दृढ़ता से बड़े-बड़े फसादियों की रगें ढीली कर दीं। इसके साथ ही उनके सौजन्य ने भले आदमियों का मन जीत लिया। दल-के-दल लोग सलाम को हाज़िर होने लगे। फिर भी वह प्रजा को अधिक समय तक संतुष्ट न रख सका। उसके सिपाही आखिर राजपूत थे। अफ़ग़ानों के अत्याचार याद करते, तो बेअख्तियार माथे पर बल पड़ जाता।, इस भाव से प्रेरित होकर प्रजा को सताते। अतः इसकी शिकायतें अकबर के दरबार में पहुँचीं। राजा बिहार भेज दिए गए।

बंगाल अकबर के साम्राज्य का वह नाजुक भाग था, जहाँ फसाद का मवाद इकट्ठा होकर पका करता था। पठानों ने अपने तीन सौ साल के शासन में इस देश पर अच्छी तरह अधिकार जमा लिया था। बहुतेरे वहीं आबाद हो गए थे, और यद्यपि अकबर ने कई बार उनका नशा हिरन कर दिया था, फिर भी कुछ ऐसे सिर बाक़ी थे, जिनमें राज्य की हवा समायी हुई थी और वह समय-समय पर उपद्रव खड़ा किया करते थे। वहाँ के हिंदू राजाओं ने भी उनसे प्रेम का नाता जोड़ रखा था और आड़े समय पर काम आया करते थे।

मानसिंह के जाते ही राजा पूरनमल कंधोरिया पर चढ़ गया और उसके दर्प-दुर्ग को ध्वस्त कर दिया। राजा संग्राम-

सिंह को भी तलवार के घाट उतारा और कुछ राजाओं को दबाकर बिहार को उपद्रव उठानेवालों से साफ कर दिया। इन विश्वस्त सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप उसको राजा की पदवी, शाही जोड़ा, सुनहरे जीन सहित घोड़ा और पंचहज़ारी का पद प्रदान किए गए।

पर ऐसे मनचले जोशीले राजपूत से कब चुप बैठा जाता था। सन् १५९० ई० में उसने घोड़े को एँड़ लगायी और उड़ीसा में दाखिल हो गया। उन दिनों यहाँ क़तलू ख़ाँ पठान राज्य करता था। सामने के लिए तैयार हुआ, पर संयोग-वश इसी बीच पठानों में अनबन हो गई। क़तलू ख़ाँ क़तल हुआ, बाक़ी सरदारों ने अधीनता स्वीकार की और कई साल तक आज्ञाधारक बने रहे। पर अचानक उनकी हिम्मतों ने फिर सिर उभारा और बादशाही मुल्क पर चढ़ आए। इधर मानसिंह बेकारी से ऊब उठा था। बहाना हाथ आया। तुरंत सेना लेकर बढ़ा और दुश्मनों के इलाके में अकबरी झंडा गाड़ दिया। पठान बड़े जोश से मुक़ाबले को आये, पर राजपूत सूरमाओं के आगे एक भी पेश न गई। दम के दम में सुथराव हो गया और बिहार से लेकर समुद्रतट तक अकबरी प्रताप की पताका फहराने लगी।

राजा मानसिंह रण-विद्या में जैसा पंडित था, राजनीति के तत्त्वों से भी वैसा ही सुपरिचित था। उसकी गहरी निगाह ने साफ़ देख लिया था कि यह बेल मुंढे चढ़ने की नहीं। इस प्रकार राज्य कभी स्थिर न रह सकेगा, जब तक कि एक

ऐसा नगर न बसाया जाय, जो दरियायी हमलों से सुरक्षित हो और ऐसे केन्द्रीय स्थान पर स्थित हो, जहाँ से चारों ओर आसानी से कुमक भेजी जा सके। अंत को बड़े बहस-मुबाहसे, सलाह-मशिवरे के बाद अकबर-नगर की नींव डाली गई। मानो जंगल में मंगल हो गया। कुछ ही वर्षों में नगर में ऐसी शोभा और चहल-पहल हो गई कि इंद्रजाल-सा मालूम होने लगा। यह नगर आज राजमहल के नाम से प्रसिद्ध है और जब तक धरा-धाम पर बना रहेगा अपने संस्थापक का नाम उजागर करता रहेगा। इस नगर के बीचों-बीच एक सुदृढ दुर्ग निर्माण कराया गया और पठानों को फिर सिर उठाने का साहस न हुआ। राजा ने चार ही पाँच साल के प्रयत्न और परिश्रम से सारे बंगाल से अकबर के चरणों पर माथा टेकवा दिया। खाँजमा, खानखाना, राजा टोडरमल जैसे यशस्वी व्यक्तियों ने बंगाल पर जादू फूँके, पर वहाँ अधिकार जमाने में असफल रहे। ऐतिहासिकों ने इस गौरव का अधिकारी मानसिंह को ही माना है। इन सूबों में नवयुवक जगतसिंह ने भी मरदानगी के खूब जौहर दिखाए और सन् १५९८ ई० में पंजाब के पहाड़ी इलाके की सूबेदारी से सम्मानित किया गया। पर यह साल मानसिंह के लिए बड़ा ही मनहूस था। उसके दो बेटे ठीक चढ़ती जवानी में, जब जीवन के सुखों के उपभोग के दिन आ रहे थे, कालग्रास बने और बाप की आशाओं की कमर तोड़ गए।

पर राजा सम्भवतः उन संपूर्ण सुखों का उपभोग कर

चुका था, जो विधाता ने उसके भाग्य लेख में लिख रखे थे। इन महाशोकों के दो ही साल बाद उसके हृदय पर ऐसा घाव बैठा कि उबर न सका।

मेवाड़ का राणा अभी तक अकबरी दरबार में हाजिरी लगानेवालों की श्रेणी में न आया था और अकबर के दिल में लगी हुई थी कि उसे अधीनता का जुआ पहनाए। अभी जितनी सेनाएँ इस मुहिम पर गयी थीं, सब विफल लौटी थीं। अबकी बार बहुत बड़े पैमाने पर तैयारियाँ की गईं। शाहज़ादा सलीम सेनापति बनाए गए और राजा मानसिंह उनके सलाहकार बने। होनहार राजकुमार जगतसिंह बंगाल में बाप का उत्तराधिकारी हुआ। खुश-खुश पंजाब से आगरे आया और सफ़र का सामान करने में लगा था कि अचानक दुनिया से ही उठ गया। बड़ा ही सुशील जवान था। कछवाहों के घर-घर कुहराम मच गया। मानसिंह को यह खबर मिली, तो उसकी आँखों जगत सूना हो गया। दो बेटों के घाव अभी भरने न पाए थे कि यह गहरा घाव और बैठा। हाय! जवान और होनहार बेटे की मौत का सदमा कोई उसके दिल से पूछे। अकबर को भी जगतसिंह की मृत्यु का बड़ा दुःख हुआ, उससे बहुत स्नेह रखता था। उसके बेटे मानसिंह को बंगाल भेजा, पर वह अभी अनुभवहीन लड़का था। पठानों से हार खायी और सारे बंगाल में बागियों ने स्वाधीनता का झंडा फहरा दिया।

इधर शाहज़ादा का मन भी राणा की मुहिम से उचाट

हुआ । भोग-विलास का भक्त था, पहाड़ों से सिर टकराना पसंद न आया । बिना बादशाह की इजाजत के इलाहाबाद को लौट पड़ा । मानसिंह बंगाल को चला कि विप्लव की आग को उपद्रवियों के रक्त से बुझाए । मगर अफसोस ! बुढ़ापे में बदनामी का धब्बा लगा । अकबर को शक हुआ कि सलीम राजा के इशारे ही से लौटा है, यद्यपि यह संदेह निराधार था । क्योंकि शाहज़ादे का मन पहले से ही उसकी ओर से सशंक और कलुषित हो रहा था । परन्तु मानसिंह की साहस-वीरता-भरी कार्यावली ने शीघ्र ही इस शंका को दूर कर दिया । कुछ ही महीनों में बंगाल ने अकबर के सामने सिर झुका दिया और सन् १६०४ ई० में अकबर की गुण-ग्राहकता ने उसे शाहजादा खुसरो के शिक्षक-पद पर नियुक्त करके हफ़्तहजारी मनसब—छः हजार सवारों के नायकत्व—से सम्मानित किया । अब तक यह गौरव किसी और अधिकारी को प्राप्त न हुआ था । पर राजा टोडरमल के सिवा दूसरा कौन था, जो स्वामिभक्ति और उसके लिए जान हथेली पर लिये रहने में उसकी बराबरी कर सकता ? इस पर राजा की विशेषता यह कि वह स्वयं भी एक सुविख्यात सुसम्मानित कुल का दीपक था, जिसके साथ २० हजार योद्धा हरदम पसीने की जगह खून बहाने को तैयार रहते थे । पर हा, हंत ! सहज वामविधि से उसका यह सम्मान और उत्कर्ष न देखा गया । सन् १६०५ ई० में अकबर ने इस नश्वर चोले का त्याग किया और उसी दिन से मानसिंह का गौरव-सूर्य भी

अस्ताचल की ओर अभिमुख हुआ। तथापि जहाँगीर के राज्यकाल में भी उसने ६ बरस तक इज्जत-आबरू के साथ निवाह दिया। उसकी सुलझी हुई बुद्धि और व्यवहार-कुशलता की सराहना करनी चाहिए कि जैसा समय देखता था, वैसा करता था और जहाँगीर की उदारता को भी धन्य है कि यद्यपि मानसिंह को खुसरो की ओर से उठाए जानेवाले बखेड़ों का मूल कारण समझता था, पर उसका पद और अधिकार सब ज्यों-का-त्यों रखा। खानखाना और मिरज़ा समय के संकेत को समझने की बुद्धि न रखते थे। अतः अकबर के बाद जब तक जियें, जीवन्मृत रहे। दुर्दिन के कष्ट झेलते रहे।

सन् १६१४ ई० में जहाँगीर ने एक विशाल सेना खाँजहाँ के सेनापतित्व में दक्षिण पर चढ़ाई करने को भेजी। मानसिंह भी, जो दरबार की उपेक्षा से खिन्न हो रहा था, इस मुहिम के साथ चला कि हो सके तो बुढ़ापे में जवानी का जोश दिखाकर बादशाह के दिल में जगह पाए। पर मौत ने यह अरमान निकलने न दिया। बेटों में केवल भावसिंह जीता था। जहाँगीर ने उसे मिरज़ा राजा की पदवी देकर चारहजारी के पद पर प्रतिष्ठित किया।

मानसिंह युद्ध-नीति और शासन-नीति दोनों का पंडित था और उनको सम्यक् प्रकार से काम में लाना जानता था। जिस मुहिम पर गया, विजय और कीर्ति लेकर ही लौटा। अफ़ग़ानिस्तान के लोग अभी तक उसका नाम आदर के साथ

लेते हैं। इन गुणों के साथ-साथ वह स्वभाव का विनम्र और मिलनसार था। सबके साथ सज्जनोचित व्यवहार करता। पीठ-पीछे लोगों की भलाई करता, प्रसन्नचित्त तथा विनोद-प्रिय था। उसकी उदारता उस जमाने में बेजोड़ थी, जिसकी एक कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है कि जब दक्षिण को मुहिम जा रही थी, बालाघाट स्थान में अन्न का ऐसा टोटा पड़ा कि एक रुपये के आटे में भी आदमी का पेट नहीं भरता था। एक दिन राजा ने कचहरी से उठकर कहा कि अगर मैं मुसलमान होता, तो एक समय हज़ार मुसलमानों के साथ भोजन करता। पर मैं सबमें बूढ़ा हूँ, सब भाई मुझसे पान स्वीकार करें। सबसे पहले खाँजहाँ लोदी ने हाथ सिर पर रखकर कहा कि मुझे स्वीकार है, फिर औरों ने स्वीकार किया। राजा ने एक सौ रुपया पंचहजारी का और इसी हिसाब से औरों का भोजन-व्यय बाँध दिया। हर रात को हर एक आदमी के पास एक ख़रीते में यह रुपया पहुँच जाता। ख़रीते पर उसका नाम लिखा होता। सिपाहियों को रसद पहुँचने तक सस्ते दाम पर चीज़ें मिलने का प्रबन्ध करता। रास्ते में मुसलमानों के लिए हम्माम और कपड़े की मस्जिद बनवाकर खड़ी कराता। इसी को औदार्य कहते हैं और दरियादिली इसी का नाम है। 'बाग़ोबहार' में शाहज़ादी बसरा की कहानी पढ़िए और उसकी तुलना उस ऐतिहासिक कथा से कीजिए।

राजा टोडरमल की तरह राजा मानसिंह भी मरते दम तक अपने बाप-दादों के धर्म पर दृढ़ रहा, पर कट्टरपन से

उसके स्वभाव को तनिक भी लगाव नहीं था। धार्मिक असहिष्णुता व पक्षपात करनेवाले व्यक्ति का अकबर के राज्यकाल में उत्कर्ष पाना असंभव ही था। अकबर ने एक बार मानसिंह से इशारतन धर्म-परिवर्तन का प्रस्ताव किया, उस पर राजा ने ऐसा उपयुक्त उत्तर दिया कि बादशाह को चुप हो जाना पड़ा। पुस्तकों में बहुत-से उल्लेख मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि राजा रसिकता, विनोदशीलता और चुटकुलेबाजी में भी औरों से दो कदम आगे था। यही गुण थे, जो उसके उत्कर्ष के सोपान थे। पर हमारी दृष्टि में तो उसका मूल्य और महत्व इसलिए है कि उसके घराने ने पहले-पहल दो परस्पर-विरोधी समुदायों को मिलाने का यत्न किया।

●